मेरी लद्दाख-यात्रा



ल सांकृत्यायन

मेरी लद्दाख-यात्रा

लेखक
राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग
१९३९

प्रथम संस्करण] [मूल्य ।।।)

Printed and published by
K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.,
ALLAHABAD.

विषयानुक्रमणिका

मेरी लद्दाख-यात्रा

१—मेरठ

मेरठ में मैं जनवरी के प्रथम सप्ताह ही मे आ गया। यह जिला गङ्गा और यमुना के बीच में है। दिल्ली और गाजियाबाद के बीच में यमुना ही इस ज़िले की सीमा है। यमुना के पश्चिम तरफ रोहतक का ज़िला पड़ता है।

युक्त-प्रान्त के सभी भागों से मेरठ-कमिश्नरी के लोग खुशहाल हैं। इसका एक कारण तो गङ्गा और यमुना की नहरों का सर्वत्र बिछा हुआ ताँता है और दूसरे यहाँ के किसान भी बड़े मेहनती हैं, तीसरे यहाँ बिहार-बंगाल की तरह के बड़े बड़े ज़मींदार नहीं हैं।

प्राचीन कुरु देश यही है। हस्तिनापुर गङ्गा से ५, ६ मील हट-कर गङ्गा की एक पुरानी धार बूढ़ी गङ्गा के शुष्कप्राय स्रोत पर अब भी यात्रियों के आने जाने का एक खासा स्थान है। आजकल यह भाग बिलकुल ऊजड़ है। बहुत दूर तक पुरानी बस्तियों के ऊँचे ऊँचे ध्वंसावशेष बिखरे पड़े हैं। लोगों ने इन्हीं में से किसी को बिदुर-टील, किसी को कोई टीला मशहूर कर रक्खा है। पटवारियों के कागज़ों में अब भी कुछ भाग को 'पट्टी कौरवान' और कुछ के लिए 'पट्टी पाण्डवान' लिखा पाया जाता है। यहाँ से गङ्गा तक की भूमि को खदर (दियारा) कहा जाता है। इसमें झुण्ड के झुण्ड गायें और भैंसें चरती रहती हैं। हस्तिनापुर के नाम से कोई एक ग्राम नहीं है। जैन-धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के यहाँ दो बड़े मन्दिर हैं। कई वर्षों तक यहाँ ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम

के नाम से उनका एक गुरुकुल भी चलता रहा, किन्तु आज (१९२६ ई० में) दो तीन वर्ष से वह जयपुर चला गया है। मन्दिरों के एकान्तवासी पुजारी यात्रा के समयों के अतिरिक्त बड़ी नीरसता अनुभव करते हैं। उनमें से एक ने बड़े करुण स्वर से कहा था—"उस समय बहुत अच्छा था। सौ के क़रीब ब्रह्मचारी और बीसों परिवार अध्यापकों के रहते थे। रात को आज सूनी पड़ी कोठरियाँ रोशनी से जगमगाती रहती थीं।" अध्यापकों के कितने ही घर अब गिर रहे हैं। पास के एक टीले पर रघुनाथराव का महल है। कहा जाता है, कोढ़ी होकर मराठा पेशवा-वंशज यहीं रहता था। अब उसकी एक दीवार में संगमर्मर की पट्टी पर एक नग्न मूर्ति बनी हुई है, साथ ही नये ईंटों-चूने की कुछ मरम्मत दीख पड़ती है। कहा जाता है कि जैनगुरुकुलवालों ने अपना दख़ल जमाने ही के लिए ऐसा किया था। मन्दिर से थोड़ा पूर्व कर्णघाट है।

मेरठ से १६, १७ मील पर मवाना क़स्बा है। यहाँ तहसील, मिडिल वर्नाक्यूलर स्कूल के अतिरिक्त मिडिल इँग्लिश स्कूल तथा अस्पताल भी है। मवाने से प्रायः ५, ६ मील पर हस्तिनापुर है, और ८, ९ मील पर परीक्षितगढ़। परीक्षितगढ़ दिन पर दिन अवनति पर है। एक टूटी-फूटी दूकान में हुक्का पीते हुए एक बूढ़ा आदमी बोल रहा था—"किसी समय यह क़स्बा बड़ी रौनक पर था। उस समय हर चीज़ के कारीगर यहाँ मौजूद थे। ग़दर में सरकार ने क़स्बे की बाहरी दीवार को उड़वा दिया। आपने राजा का क़िला जो देखा है, वह किसी समय बड़ा ही सुन्दर था, आज की तरह रुंडमुंड नहीं।

इधर सवा मील का कोस होता है। परीक्षितगढ़ से प्रायः तीन कोस पर ईसाइयों की कन्या-पाठशाला है। हम लोग बेल ताँगे पर जा रहे थे। एक गाँव में एक कच्चे मकान की मिट्टी की छत पर लकड़ी का एक "क्रास" लगा हुआ देखा। पूछने पर मालूम हुआ, यहाँ के सभी भंगी ईसाई हो गये हैं, उन्हीं का यह गिर्जा है। पादरी

पादरनी बाहर प्रचार करने गये हैं। यह गाँव तगों का है। इन तगों की स्थिति वही है जो पूर्व में भूमिहारों की। ये लोग पुरोहिती का काम नहीं करते। एक तगा बड़े गर्व से कह रहा था—सबकी ज़मींदारी बिकते देखी होगी, लेकिन तगों की नहीं। तगों को जाट गूजरों की भाँति इधर चौधरी कहकर पुकारते हैं। इन लोगों को चालीस भंगियों के क्रिस्तान हो जाने का कोई अफ़सोस नहीं। चमारों के लड़कों को अपने लड़कों के साथ ये नहीं पढ़ने देते। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने अछूत-पाठशाला अलग क़ायम की है, लेकिन उसके लिए यहाँवाले ज़मीन भी नहीं देते। कहते हैं कि चमार पढ़ जायँगे, तो काम कौन करेगा?

गाँव से थोड़ी ही दूर पर ईसाइयों की पाठशाला है। वह बस्ती से दूर खेतों में बनी है। मकान बिलकुल देहाती ढंग के कच्चे हैं। एक अँगरेज़ महिला प्रधान अध्यापिका हैं। पाठशाला मिडिल-वर्नाक्यूलर तक है, साथ ही ट्रेनिंग की श्रेणियाँ भी हैं। ट्रेनिंग-क्लास को छोड़कर सत्तर लडकियाँ मिडिल तक में पढ़ रही हैं। ये सभी लड़कियाँ सिर्फ़ दो जातियों मेहतर और चमार की हैं। हिन्दू-जाति की इन उपेक्षित और घृणा से देखी जाती हुई जातियों की इन लड़कियों की शरीर-वस्त्र-गृह-सम्बन्धी सफ़ाई देखकर मेरे एक साथी ने कहा, 'ऐसी सफ़ाई तो ऊँचे तबके के शिक्षित हिन्दुओं की लड़कियों में भी मिलनी मुश्किल है, साथ ही हर जगह हर एक चीज़ में सादगी और कमख़र्च को सामने रक्खा गया है। भोजन जो कि शुद्ध, सादा हिन्दुस्तानी होता है—लड़कियाँ स्वयं पकाती हैं। कपड़ा बुनना, टोकरी बनाना, मोजे बुनना, सिलाई आदि कितनी ही स्त्रियों के उपयुक्त हस्तशिल्प की भी उन्हें शिक्षा दी जाती है। अछूत जातियों को पशुता से उठाकर इस प्रकार देवता बनाने का प्रयास ईसाई भाइयों की ओर से देखकर हृदय उनके प्रति कृतज्ञता से भर जाता है। वे ही लड़कियाँ जब हिन्दू थीं तो उनकी अवस्था क्या थी और अब क्या से क्या हो गई? शहर (मेरठ) से ९, १० मील दूर, बस्तियों से भी दूर यह सरस्वती-

मन्दिर एक बड़ा ही सुन्दर और मनोरंजक स्थान है। अछूत जातियों की बात तो दूर रही, छूत जातियों की लड़कियों की शिक्षा के लिए भी इस तरह शिक्षा का प्रबन्ध बिहार के हिन्दुओं की ओर से कहाँ देखने में आता है? यह और मेरठ शहर के पास के कोढ़ीखाने जैसी संस्थायें ही हैं, जिनके देखने मे दर्शक को समझ में आ जाता है, कि ईसाई क्या इतनी शीघ्रता से बढ़ रहे हैं। जहाँ हिन्दुओं में इन लोगों की प्रति इतनी घृणा है, वहाँ ईसाइयों ने उनके साथ कार्य-रूप मे कितनी सहानुभूति और प्रेम दिखलाया है।

२—पंजाब

अम्बाला मे असली पंजाब शुरू हो जाता है। ऐसे प्रबन्ध के तौर पर तो करनाल, रोहतक, हिसार, गुड़गाँव के जिले भी पंजाब-प्रान्त ही में शामिल हैं, लेकिन उनकी भाषा, भेष आदि मेरठ-कमिश्नरी के लोगों से अधिक मिलते हैं। सबसे बड़े आश्चर्य की बात अम्बाला के इन कई ज़िलों तथा मेरठ-कमिश्नरी की यह है कि यहाँ हिन्दू सत्तर और अस्सी फ़ी सदी मे भी ज़्यादा हैं, यद्यपि ये ज़िले दिल्ली के पड़ोसी हैं; जहाँ पर कितने ही अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक, औरंगज़ेब जैसे मदान्ध बादशाह सैकड़ों वर्षों तक राज्य करते रहे। इसके भीतर रहस्य क्या है? मालूम होता है, इन जगहों के हिन्दू पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं की तरह खोखले न थे। यही जगहें हैं जहाँ राजपूतों के अतिरिक्त जाट, गूजर, अहीर जैसी वीर क्षत्रिय-गुण-सम्पन्न जातियाँ बसती हैं। ब्राह्मणों में तगा या दानत्यागी (जो बिहार के भूमिहार ब्राह्मणों की तरह है) जैसी जाति भी यहाँ कसरत से है, जिसको कि देशकाल की परिस्थिति की पहिचान मशहूर है। खेती, ज़मींदारी आदि सभी व्यवसायों में जहाँ यह जाति बहुत बढ़ी-चढ़ी है, वहाँ सामाजिक सुधार में भी अपने पड़ोसी जाट आदि जातियों से कुछ पीछे नहीं है। सुना जाता है मेरठ और अम्बाला कमिश्नरियों के ज़िलों को मिलाकर

दिल्ली का प्रान्त बड़ा किया जानेवाला है। यह स्पष्ट है कि ऐसे प्रान्त में सबसे अधिक संख्या जिस जाति की होगी वह जाट है। दूसरा नम्बर दानत्यागियों का है। लेकिन यद्यपि जाटों के सीधेपन के बारे में इन प्रान्तों में वैसी ही कहानियाँ मशहूर हैं, जैसी कि बिहार में अहीरों के बारे में (जो कि बिहार में भी संख्या के हिसाब से अधिक सर्वाधिक जाति अर्थात् बाक़ी किसी भी तीन बहु-संख्यक जातियों से अधिक प्रायः ३२ लाख) है। तथापि अब यह वीर जाट जाति वैसी भोली-भाली नहीं है। इन पचीस तीस सालों में इनमें बहुत भारी परिवर्तन हो गया है। यों भी तो यह जाति उस हरियाना प्रान्त में बसती है जहाँ पहले दूध घी की नदियाँ बहा करती थीं। और अब भी उसमें यह अन्य प्रान्तों से अधिक है। गायों, भैंसों के लिए प्रसिद्ध हासी-हिसार के ज़िले यहीं हैं। विचारों में परिवर्तन करनेवाली संस्था आर्यसमाज का इनमें अच्छा प्रभाव है। आप यहाँ कितने ही जाट वैदिक हाई स्कूल पावेंगे जो कि इस बात की पहचान हैं कि जाटों में आर्यसमाज कितना घर कर गया है। इन स्कूलों तथा कुरुक्षेत्र मटिंडू आदि गुरुकुलों ने आर्यसमाज के विचारों को फैलाने में बड़ा काम किया है। एक तो यह जाति ऐसे ही निर्भीक है, दूसरे इस पर क्षात्र-गुण-प्रधान आर्यसमाज की शिक्षा की छाप पड़ गई है।

विद्या में जहाँ अब इस जाति में संस्कृत के शास्त्रियों की कमी नहीं है वहाँ अँगरेज़ी के उच्चशिक्षाप्राप्त भी बहुतायत से हैं और उनकी संख्या दिन-ब-दिन बढ़ रही है। प्रत्येक जाट में अपनी सन्तान की शिक्षा का व्यसन-सा हो गया है। इस अवस्था का अनुमान पाठक तभी कर सकते हैं यदि वे थोड़ी देर के लिए बिहार की बत्तीस लाख वीर अहीर-जाति में कायस्थ-जाति की-सी विद्या-चातुरी भी देखने में समर्थ हों। अस्तु, दिल्ली-प्रान्त के भविष्य में इस वीर जाट-जाति का बहुत हाथ होगा।

अम्बाला से पश्चिम चलने पर लुधियाना, जालन्धर, अमृतसर शेखपूरा, लायलपुर, स्यालकोट, झेलम, रावलपिंडी, कटक आदि ज़िलों में हिन्दुओं की संख्या इस तरह कम होती चली गई है कि अन्त के ज़िलों में तो वह सिर्फ़ शहरों ही में रह गई है। रावलपिंडी के ज़िले में सिर्फ़ कहुटा और कोहमरी की ही दो तहसीलें हैं जिनमें हिन्दू किसान भी कुछ गाँवों में बसे हुए हैं। और यह सभी ब्राह्मण सारस्वत और भूमिहार हैं। इनमें शिक्षा का अभाव है। आम तौर से हल जोतते हैं, गदहे पालते हैं। सैकड़ों ऐसे भी मिलते हैं जो आजन्म बिना जनेऊ के रह जाते हैं। वेष-भूषा बिलकुल वही है जो कि मुसलमानों की। मांस और मुर्ग़ प्रायः ये सभी ब्राह्मण खाते हैं। बाल-विवाह बहुत कम होते हैं। पर्दा का नामोनिशान नहीं। आम तौर से लोगों के सामने भी स्त्रियाँ नंगी नहाने से परहेज नहीं करतीं। नंगी कपड़े धोया करती हैं। इन ज़िलों के डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में प्रायः सभी सभासद मुसलमान ही हैं। शिक्षा आदि किसी बात में हिन्दुओं का वे ख़्याल नहीं रखते।

अटक—यह सिन्धु के किनारे का पार्वत्य ज़िला है। सिन्धु की धार अटक बस्ती के पास बहुत ही पतली है। जिस समय एक आदमी अटक के क़िले के नीचे सिन्धु के किनारेवाली चट्टानों पर बैठ कर उस पार की दूर तक फैली हुई पहाड़ियों पर नज़र डालता है तो वह उसे भूतकाल के उस स्वप्न-जगत् की ओर संकेत करती है; जब कि सहस्रों हूण, यवन, शक, तुर्क, मुग़ल जातियाँ इन्हीं पहाड़ियों को फाँद कर पूतसलिला सिन्धु के तट पर पहुँचती थीं। न जाने कितनी बार माता सिन्धु ने भारत की पत रखने के लिए उनके मार्ग में रुकावट डाली होगी। लेकिन हर बार उसे असफलता ही रही। भारत की विशृंखलित जनता ने चन्द्रगुप्त के बाद कब माता सिन्धु के काम में मदद दी। आज वह अटकनगर भी नहीं है, अब उसकी जगह थोड़े से घर रह गये हैं। रेल ने उसे श्रीहत कर दिया। सात

सौ हिन्दुओं के घरों में अब बारह चौदह ही बाक़ी रह गये हैं। जहाँ काबुल-विजेता मानसिंह ने सैकड़ों घर राजपूतों के बसाये थे, उस मलाही टोला में आज एक भी हिन्दू नहीं। नदी के किनारेवाले साधु ने बतलाया कि पहले यहाँ दो चार राजपूत हिन्दू थे।

तक्षशिला—तक्षशिला-जंकशन के पास यह स्थान रावलपिंडी और हजारा ज़िलों की सीमा पर है। यहाँ के सभी निवासी मुसलमान हैं। किसी समय प्राचीन गान्धार देश की यही राजधानी थी। यहीं के राजा ने महावीर सिकन्दर की आवभगत की थी। लेकिन तक्षशिला का माहात्म्य राजधानी होने में नहीं है। यह प्राचीन भारत के उन ज्योति-स्तंभों में थी, जहाँ से विद्या का प्रकाश सुदूर देशों तक फैलता था। गान्धार सन्तान शालातुरेय दाक्षीपुत्र महावैयाकरण पाणिनि को पैदा करनेवाला यही तक्षशिला थी। गोनर्दीय पातंजलि की विद्या-भूमि भी यही बतलाई जाती है। भगवान् बुद्ध के मुखारविन्द से अनेक बार तक्षशिला विद्यालय का जिस प्रकार नाम आया है, उससे भी उसका प्राचीन वैभव सिद्ध है। वैसाली (बनिया बसाढ़ ज़िला मुजफ़्फ़रपुर) की अम्बापाली तथा मगधराज बिम्बिसार के पुत्र प्रख्यात चिकित्सक जीवक ने इसी विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। कोई समय था जब कि काशिराज ब्रह्मदत्त का पुत्र भी बनारस से चलकर यहाँ पढ़ने के लिए आया था। लेकिन आज यह स्थान उजाड़ और बीरान है। दूर तक जगह जगह भीट मिलते हैं। इन्हें खोद कर पुरा-तत्त्व-विभाग ने बहुत-सी चीज़ प्राप्त की है। ये खुदाइयाँ भिड़, सिरसुख, सिरकप, जौलियाँ, माडा-मुरादू आदि स्थानों में हुई हैं। सम्राट् कनिष्क का धर्मराजिका स्तूप अब भी चिडतोप के नाम से मौजूद है। वृद्ध मुसलमान चौकीदार ने बड़े चाव से कहा "बुतों का तोड़ना तो सवाल है। लेकिन हम तो नौकर हैं। इन निकली हुई मूर्तियों को तोड़ने पर हमारी नौकरी ही चली जायगी। कितना अफ़-सोस है। जिनके पूर्वजों ही ने किसी समय इन सारे सभ्यता-केन्द्रों

को स्थापित किया था। आज वे अज्ञानान्धकार में पड़े हुए इन चिह्नों पर कुछ भी गर्व नहीं करते। तक्षशिला के इन बिखरे हुए विस्मृत चिह्नों को देखते दर्शक के मन में अद्भुत भाव पैदा होने लगते हैं।

३—मुलतान

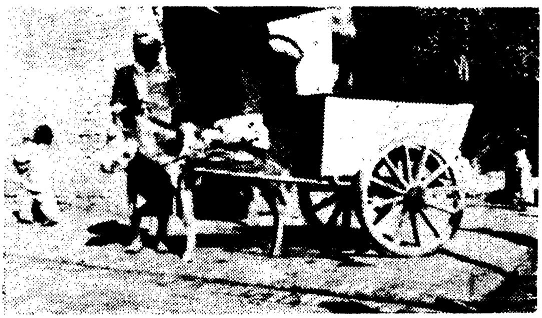
लायलपुर—यह एक नया जिला है, साथ ही इस इलाक़े की आबादी भी बिलकुल तीस साल की है। सारे ज़िले में ओर से छोर तक नहरों का ताँता लगा है। जब नहरें न थीं, तो यहाँ या तो जगह जगह बालू के ढेर थे, अथवा जहाँ तहाँ बबूल या दूसरे ऐसे दरख्तों की झाड़ियाँ थीं। सचमुच यहाँ के गाँववालों को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य होगा, कि बिना नहरों के भी कोई देश हरा-भरा रह सकता है। इस इलाक़े के कुएँ आम तौर से खारी होते हैं। लोग पीने के लिए भी नहरों का ही पानी इस्तेमाल करते हैं; पंजाब-प्रान्त का कृषि-कालेज लायलपुर ही में है। देहाती किसानों में सिक्ख, जाटों की संख्या अधिक है। नये अकाली-आन्दोलन का भी इन पर बड़ा असर हुआ है, लेकिन इनमें कई एक ऐसे दोष हैं, जिनके हटाने के लिए इस आन्दोलन ने कुछ भी नहीं किया है। ये लोग शराब में बड़ा रुपया बर्बाद करते हैं। शादियों में, मेलों में इस शराबखोरी के कारण कितनी ही बार खून-खराबी तक की नौबत आती है। अकाली-आन्दोलन ने वस्तुतः अपने आदमियों के भीतर घर कर गये इस तरह के कितने ही दोषों से जानबूझ आँखें मीची हैं। इससे तो उनका सूर्य मध्याह्न से नीचे की ओर जा रहा मालूम होता है। अभी से इनमें भयंकर फूट पड़नी शुरू हो गई है। अस्तु। यह शराबखोरी की भयंकर आदत इस ज़िले के किसानों में बहुत ज़्यादा है। खेती अधिकतर गेहूँ की होती है। पंजाब में जितना मोटर का रवाज हो गया है, उतना तो भारत के शायद ही किसी प्रान्त में हो। लायलपुर जैसे



लायलपुर की रुई की मण्डी

तीस सालवाले शहर में भी इसकी तादात सैकड़ों तक पहुँच गई है। मोटरवाले मामूली फ़ोर्ड की बाडी में घटा-बढ़ा कर बारह सीट की जगह बना लेते हैं। इनके कारण इक्के ताँगेवालों की हालत ख़राब हो रही है। लक्षण तो बतला रहे हैं कि वह समय दूर नहीं जब वहाँ सिर्फ़ मोटरें ही मोटरें रह जायँगी।

मुलतान--सिन्ध और सतलज के बीच में पाँच तहसीलों का ज़िला है। मुलतान की गरमी मशहूर है। क्यों न हो एक समय यहाँ के सबसे बड़े देवता सूर्य रहे हैं, और यहाँ के मुसलमानों के पीर, शम्स



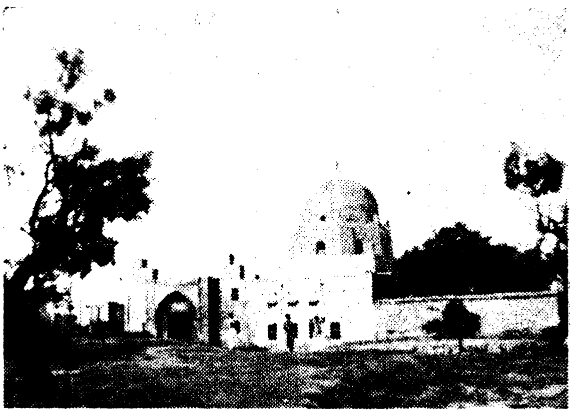
मुलतान की एक गधा-गाड़ी। यह शहर की गलियों में चलती है।

(सूर्य) अब भी मशहूर हैं। आधे मार्च ही में जब कि पंजाब के अन्य भागों में दिन में भी सर्दी देखने में आती है, यहाँ गर्मी की मात्रा बढ़ चली है। जिला पहाड़ी भी नहीं है। लेखक ने एक मकान की सरकंडों की बनी छत देखी। उस पर बहुत पतली-सी मिट्टी पड़ी हुई थी। उसने अनजाने एक आदमी से पूछ डाला--"यह बरसात के पानी को कैसे रोकती होगी?" "यहाँ उतनी वृष्टि कभी होती ही नहीं। यहाँ तो बूँदाबाँदी होकर रह जाती है।"

मैंने कहा--"ये हरे-भरे खेत और बाग़ कैसे हैं?"

उत्तर मिला—"सब नहरों और कुओं की बदौलत।"

यद्यपि वृष्टि इतनी कम है तो भी कुओं में पानी बहुत नीचे नहीं होता। यहाँ के लोग पानी की क़दर ख़ूब जानते हैं। कुएँ बारहों महीने चलते ही रहते हैं। मुलतान, सिन्ध और पंजाब प्रान्तों की संधि पर है। इसी लिए यह दोनों से विलक्षण है। यहाँ की पोशाक में सिंधियों की घाघरी, जहाँ एक तरफ़, शामिल है, वहाँ सलवार का भी बिलकुल अत्यन्ताभाव नहीं है। देहाती लोग अधिकांश मुसलमान



मुलतान का क़िला और उसमें ख़ानगाह बहाबल हक़ की इमारत।

हैं। कहीं कहीं कुछ हिन्दू खेती करनेवाले मिलते हैं। हिन्दू ज्यादातर शहरों में रहते हैं, और व्यापार तथा नौकरी करते हैं। भाषा न तो पंजाबी है, और न सिंधी। यद्यपि यह सर्दी-गर्मी दोनों में हद से बढ़ा हुआ है, लेकिन लोग अधिकतर अच्छे खासे गोरे होते हैं। शहरों में तो अब सभी जगह समीकरण होता जा रहा है; लेकिन देहाती स्त्री-पुरुष ख़ूब लम्बे-चौड़े होते हैं। यहाँ के खेती करनेवाले ब्राह्मण, खत्री आदि सभी हिन्दू आम तौर से गदहे पालते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से मुलतान एक ख़ास दर्जा रखता है। यहाँ का सूर्य-मन्दिर एक बड़ा तीर्थ-स्थान था। जैसे और मन्दिरों के ऐश्वर्य ने मुसलमानों को बुलाकर अपना सत्यानाश कराया, इसी तरह इसने भी ख़ैबर-पार के लुटेरों को दावत दी। आज मुश्किल से उस मन्दिर का निशान मिलता है। इस समय प्रह्लाद जी का मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। मन्दिर देखने से तो पुराना नहीं मालूम होता, लेकिन उससे लगी हुई गौसपीर की दर्गाह वह स्थान है, जहाँ शायद पुराना मन्दिर था। दर्गाह की ईंटें पुरानी हैं। ये दोनों इमारतें उस क़िले पर हैं, जिसके साथ दीवान सावनमल का अमर नाम सम्बद्ध है। सिक्खों के राज्य की बागडोर अँगरेज़ों के हाथ में जाने के बाद भी इस वीर हिन्दू ने कुछ दिनों तक मुलतान की स्वतन्त्रता क़ायम रक्खी। आज इस क़िले की ईंटें नहीं हैं, खाइयाँ भी सूख गई हैं। बीच बीच में फरास (झाऊ-सा बड़ा वृक्ष) तथा दूसरे वृक्ष उगे हुए हैं।


मुलतान के क़िले में प्रह्लादपुरी-मंदिर

मुलतान में हिन्दुओं की कई अच्छी संस्थायें हैं। भला हो, आर्य-समाज का जिसने एक नई लहर पैदा कर दी। आज पंजाब का शायद ही कोई ऐसा शहर हो, जहाँ आर्यसमाज का कोई डी० ए० वी० हाईस्कूल न हो। यही अवस्था कन्या-पाठशालाओं के बारे में भी

है। बल्कि पुत्री-पाठशालायें तो आर्यसमाज का एक आवश्यक अंग-सी बन गई हैं। मुलतान का डी० ए० वी० स्कूल एक प्रसिद्ध संस्था है। अनाथ बालक-बालिकाओं के लिए पास ही एक आर्य-अनाथालय भी है। शहर से चार मील पर गुरुकुल है, जिसमें १३० लड़के पढ़ते हैं। शहर में एक सनातन-धर्म स्कूल भी है।

पीछे मुलतान में जो दंगा हुआ था, उसकी खबर सभी ने सुनी है। यद्यपि आज (१९२६ ई०) उस बात को हुए प्रायः तीन साल हो गये, परन्तु अब भी कितने ही मकान हैं, जो जलकर फिर नहीं बने। जली हुई लकड़ियाँ और दीवारें अब भी दिखाई देती हैं। कई एक मन्दिर भी उस समय जला दिये गये थे, जिनमें अधिकांश का पुनरुद्धार होगया है। अन्य जगहों की भाँति यहाँ के भी हिन्दू स्वभावतः सौम्य हैं। उस पर भी यहाँ के हिन्दू ज़्यादा व्यापार या क़लम का व्यवसाय करते हैं। इन सबके ऊपर है फूट का मेवा तथा ऊँच-नीच का भाव। इनकी अपेक्षा मुसलमान अधिक मज़बूत हैं। उनमें धर्मान्धता भी है, और उस पर उन्हें हिन्दुओं जैसी धनी और भीरु जाति से पाला पड़ा है। लेकिन हिन्दुओं का भी अब समय बदल रहा है। फूट तो यद्यपि उतनी कम नहीं हुई, किन्तु ज़नानापन निकलकर मर्दानगी ज़रूर आ रही है, यद्यपि उसकी चाल मन्द है। पिछले दंगे की एक घटना है। जिस वक़्त मुसलमान गुंडे हिन्दू-मुहल्लों को जला रहे थे, उसकी खबर सुनकर आर्यसमाजियों ने समझा—वे हमारे मन्दिर को भी जला देंगे—इसलिए लाठियों के साथ उनमें से कितने ही उस गली में जमा हो गये। गुंडे आये, लेकिन प्रतिपक्षियों को देखकर उनकी हिम्मत आगे बढ़ने को न हुई। गवर्नमेंट ने पीछे हिन्दू-मुसलमान प्रत्येक व्यक्ति पर १) (।।।~) + ≡) दो बार) लगाकर वसूल किया, और इस रुपये को क्षतिपूर्ति के तौर पर उन हिन्दुओं को दिया जिनके घर जला दिये गये थे। अब ये बातें पुरानी होती जा रही हैं।

—मुल्तान १९-३-२६

४—देरागाज़ीख़ाँ

भाषा के विचार से मुलतान, मुजफ़्फ़रगढ़ और देरागाज़ीख़ाँ एक प्रान्त है। इनमें से मुजफ़्फ़रगढ़ और मुलतान के ज़िले सिन्धु नद के पूर्व की तरफ़ हैं, और देरागाज़ीख़ाँ सिन्धु के पश्चिम की तरफ़। मुजफ़्फ़रगढ़ बिलकुल वैसा ही है, जैसा कि मुलतान का ज़िला। शहरों को छोड़ बाक़ी सब जगह मुसलमानों की आबादी है। गर्मी-सर्दी दोनों ही कड़ाके की पड़ती है। सिन्धु के किनारे की तरफ़ मीलों तक बालू के ऊँचे-नीचे टीले तथा कटीली झाड़ियाँ मिलती हैं, जिनमें जगह जगह ऊँट चरते हुए दिखाई पड़ते हैं। मकान कच्चे, और उनकी छतें भी कच्ची होती हैं। पानी के तालाब या झील इस तरफ़ बिलकुल ही दिखाई नहीं पड़ते।

देरागाज़ीख़ाँ—सिन्धुनद और सुलेमान पर्वत के बीच में यह ज़िला कोई दो सौ मील तक लम्बा चला गया है। चौड़ाई इसकी ५०-६० मील से कहीं भी अधिक नहीं है। सिन्धु की धार यहाँ बड़ी ही अनिश्चित-सी है। इसके किनारे दस दस मील दूर के लोग भी अपने को सुरक्षित नहीं समझते। पुराना देरागाज़ीख़ाँ एक बहुत ही रम्य तथा समृद्धशाली नगर था। उसे सिन्धु ने एक ही बार में भूतल से नाममात्रावशेष बना दिया। नया देरागाज़ीख़ाँ उससे दस मील और पश्चिम की तरफ़ हट कर बसा है। शहर अभी नया है। वृक्षों की छाया का अभाव है। मकानों पर धूल उड़ती-सी मालूम होती है। शहर में हिन्दुओं की तादात काफ़ी है। हिन्दू-हाईस्कूल तथा ऐंग्लो-संस्कृत (आर्यसमाज) हाईस्कूल के नाम से दो हिन्दुओं के हाई-स्कूल भी हैं, साथ ही एक गवर्नमेंट हाईस्कूल भी है। गन्दगी तो पंजाब का ख़ास्सा है। जिन मकानों के रहनेवाले कपड़े-लत्तों में बड़े साफ़ दिखलाई देंगे, उनके मकानों की भी सारी खुली छत पायख़ाना का काम देती है। शहरों की गलियाँ भी गंदी रहती हैं। लोग इसकी तरफ़

बिलकुल ध्यान नहीं देते। वकील, डाक्टर, मोटरवाले, तथा दूसरी तरह के व्यापारियों में हिन्दू अधिक हैं। हिन्दू आर्थिक अवस्था में मुसलमानों से श्रेष्ठ हैं। मज़दूर-पेशा हिन्दू इधर बहुत कम मिलते हैं।

इस ज़िले में भी हिन्दू शहरों ही में मिलते हैं। वहाँ का व्यापार इनके हाथों में है। अब मुसलमानों का भी ध्यान इधर आकृष्ट होने लगा है। पंजाब में कृषि-क़ानून बन चुका है, जिसकी वजह से हिन्दुओं की कुछ जातियाँ ग़ैर-ज़रायत-पेशा मानी गई हैं और उन्हें ज़मीन ख़रीदने के हक़ से वंचित कर दिया गया है। पंजाब में इस तरह के हथियार हिन्दुओं पर बराबर चल रहे हैं। जो क़ानून केनिया और अफ़्रीका के गोरों-द्वारा हिन्दुस्तानियों के लिए बनाये गये हैं, उनकी कोई न कोई छोटी शक़ल यहाँ भी हिन्दुओं के लिए दी गई है। ज़मीन से इस तरह हिन्दू महरूम हुए। अब एक नया क़ानून साहूकारा के बारे में पेश हुआ है। इसके अनुसार हिन्दू—जो रुपयों का लेन-देन बहुत करते हैं—उससे भी हाथ धोयेंगे। स्कूलों में उनके लड़कों को ज़्यादा फ़ीस देनी पड़ती है, ज़मीन वे ख़रीद नहीं सकते। साहूकारों के लिए भी नया अस्त्र तैयार हो रहा है। मुलतान ऐसे उपद्रवों में हिन्दू ही बर्बाद होते हैं, और फिर तावान (क्षतिपूर्ति) का अधिक रुपया भी उन्हीं से वसूल किया जाता है। ये कतिपय उदाहरण हैं, जिनसे बिहारी पाठक यहाँ की अवस्था का अनुमान कर सक्ते हैं।

हिन्दुओं में आपस की फूट भी कम नहीं है।

पंजाब के हिन्दुओं में शिक्षा का जो प्रचार हुआ है उसमें आर्य-समाज का हाथ प्रधान है। उसने लोगों की रुचि ही में एक भारी परिवर्त्तन पैदा कर दिया है। दान आदि में लोग जातीय हित का बड़ा ध्यान रखने लगे हैं। बिहारियों की तरह शादी और श्राद्ध में यहाँ के लोग उजड़ नहीं जाते हैं। इनकी वजह से पुरोहित-समाज के लाभ में कमी होनी आवश्यक है। पुरोहित बिहारी पुरोहितों से भी

अधिक गिरे हुए हैं। यह पुरोहित-समाज आर्यसमाजियों पर भीतर ही भीतर खार खाये हुए बैठा था। आजकल इन लोगों का प्रधान काम आर्य-समाजियों के खिलाफ़ आग लगाना है। यद्यपि समझदार आदमी इन चालाकियों को समझते हैं, किन्तु तब भी बहुत-से ऐसे मिल जाते हैं, जिन पर हिन्दुओं को रसातल भेजनेवाले इस पुरोहित-समाज का जादू चल जाता है। इससे हिन्दुओं की संघ-शक्ति कमज़ोर हो रही है। बड़े अफ़सोस की बात तो यह है कि जो लोग यहाँ अपने आपको सनातन-धर्मी पुरोहित कहते हैं उनके आचार-विचार, वेष-भूषा ऐसे हैं कि उधर बिहार में तो कोई अपना लोटा भी उन्हें पानी पीने के लिए नहीं देगा। उदाहरणार्थ यहाँ मुर्ग़ी का मांस और अंडा आमतौर पर खाते हैं। जूता पहने हुए वे एक जगह से रोटी-दाल ले जाकर २० कोस पर खा सकते हैं। शादी-विवाहों में रसोई बनाने का भार नाई राजा और उसकी रानी पर रहता है। कहार और नाई आम-तौर पर रोटी बनानेवाले बाबा जी इधर हैं। खेती-पेशा ब्राह्मण गदहे और खच्चर आमतौर से पालते हैं और उन पर चढ़ते हैं। हल चलाने की तो कोई बात ही नहीं। मुसलमानों की तरह हिन्दू भी मूँछकटी हुई दाढ़ी रखते तथा पक जाने पर मेंहदी से रँगते हैं। हिन्दू औरतें भी मुसलमान स्त्रियों की भाँति कितनी ही चाँदी की बालियाँ कानों में पहनती हैं, सलवार (एक तरह का पायजामा) और घँघरी भी पहनती हैं। दर असल इधर हिन्दू-मुसलमान की वेष से पहचान बहुत मुश्किल है। इन अवस्थाओं में पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि एक बिहारी कट्टर सनातनी इन्हें देखकर कब सनातनी मान सकता है। वह तो साफ़ कह देगा, तुम तो आर्यसमाजियों से भी बदतर हो। लेकिन तब भी सनातनधर्म के नाम पर ये पुरोहित लोग हिन्दुओं में फूट डाल रहे हैं। टका तेरा बुरा हो, तू ही इन सब ख़ुराफ़ातों की जड़ है। यदि आज आर्य-समाजियों ने लोगों में पाठशाला, अनाथालय, स्कूल और कालिजों के लिए रुपये दान लेने का न प्रचार

किया होता और यह सारा दान पुरोहितों ही की जेबों में जाता तो आज इस विरोध का कहीं पता भी नहीं होता। लेकिन अच्छा यही है कि सभी सनातन-धर्मी इस बहकावे में नहीं आये हैं। अँगुलियों पर नाचनेवाले लोग बहुत ही थोड़े हैं।

यद्यपि हिन्दू अब भूमि ख़रीद नहीं सकते, लेकिन पहले की भूमियाँ इनके पास काफ़ी हैं, तो भी ये स्वयं खेती नहीं करते, और लाचार होकर मुसलमान काश्तकारों को देना पड़ता है। ज़मीन की पैदावार में दो-तिहाई काश्तकार का होता है, और एक-तिहाई खेत के मालिक का। सरकारी लगान, कुएँ की मरम्मत, सिंचाई का सामान, काश्तकार के रहने के लिए घर—यह सब खर्च ज़मींदार के जिम्मे हैं। खेत के मालिक को एक-तिहाई भी नहीं मिलता। एकाध बीघा खेत काश्तकार को मुफ्त भी देना पड़ता है। इसमें वह तरकारी-भाजी पैदा करता है तथा बैलों के चारे का इन्तजाम करता है। मज़दूर रखकर काम करवाने के लिए, गाँवों में भी १०-१२ रुपये महीने देने पड़ते हैं। घर, जलाने की लकड़ी तथा तरकारी मुफ्त और जलपान के लिए रोटी भी। इन सारे कामों के लिए हिन्दू मुसलमानों पर निर्भर हैं।

इस ज़िले में दो अछूत (ओड, और एक और) जातियाँ भी हैं, जिनकी संख्या २०-२५ हज़ार है। आर्यसमाजी उनकी दशा सुधारना चाहते हैं, लेकिन पुराने दकियानूसी खयालवाले न सिर्फ़ यही कि उनके कार्य में सहानुभूति नहीं प्रकट करते, बल्कि उलटा रोड़ा अटकाते हैं। इन ज़िलों के हिन्दू प्रायः सभी महाजनी या दूकान का काम करते हैं। हिन्दुओं में खत्री, दखिनी (रोडा या अराडो), उत्तराधी (कायस्थ) मोहियाल (भूमिहार ब्राह्मण) ब्राह्मण ही अधिक हैं। वे सभी जातियाँ 'कराल' का काम करती हैं। कराल यहाँ दूकानदार को कहते हैं। बड़े बड़े गाँवों में भी एकाध कराल होता है, जिसका अस्तित्व वहाँ के नम्बरदार की कृपा पर निर्भर है। एक हिन्दू डाक्टर मुझे एक दिन की घटना बतलाने लगे। वे किसी रोगी को देखने एक गाँव

गये थे। वहाँ के मुसलमान नम्बरदार के घर में कोई बीमार था। नम्बरदार ने हिन्दू दूकानदार के पास आदमी भेजा कि जल्दी लोटे में पानी और मीठा लेकर आओ। दूकान में गाहकों की भीड़ थी और दूकानदार जल्दी न आ सका। इसके लिए नम्बरदार ने उसको जूते लगाये और गालियाँ दीं। तारीफ़ तो यह कि दूकानदार का उसके ऊपर हज़ार-बारह सौ का क़र्ज़ भी था।

क़ब्र-पूजा यहाँ बड़े ज़ोरों पर है। मुसलमान औरत-मर्द तो करते ही हैं, हिन्दू भी इसमें उनसे कम नहीं हैं। वैशाखी (मेषसंक्रान्ति) के समय सखी-सखर पीर की क़ब्र पर कई हज़ार हिन्दू स्त्री-पुरुष पहुँचते हैं। कोई लड़के के लिए, तो कोई बीमारी से मुक्त होने के लिए पहुँचता है। मुसलमान मुजावर (पंडे) सैकड़ों की तादाद में वहाँ पर रहते हैं। हिन्दुओं की बड़ी दुर्गति होती है। पानी की कमी की वजह से वहाँ पानी बिकता है। भिस्ती के घड़ों का जूठा पानी पीना यहाँ के पुरोहित सनातन-धर्म कहते हैं। हिन्दुओं के मुण्डन और जनेऊ आदि भी ऐसी ही क़ब्रों पर होते हैं।

५—सीमान्त की सैर

भारत में 'सिन्धु' और 'ब्रह्मपुत्र'—ये दोनों सबसे बड़े नद हैं। यद्यपि ये दोनों ही तिब्बत में पास-ही-पास से निकलते हैं, तथापि जहाँ हिमालय के नीचे उतरते ही ब्रह्मपुत्र को आसाम-जैसा प्रदेश मिलता है (जहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों इंच वर्षा होती है), वहाँ सिन्धु को हिमालय छोड़ने पर हजारा-ज़िला से लेकर सिन्धु-प्रान्त तक (जहाँ कि वह समुद्र से मिलता है) ऐसे देशों से होकर गुज़रना पड़ता है, जहाँ कि प्रतिवर्ष एक-डेढ़ इंच से ज़्यादा वर्षा शायद ही कभी होती हो। वहाँ वर्षा का जल इतना कम होता है कि छत से नीचे कभी ही टपकता हो। देहात में लोगो के मकान या तो फूस के होते हैं या कच्ची मिट्टी की छतोंवाले। मुलतान से मुजफ़्फ़रगढ़ तक, देरागाजीखाँ से

डेरा-इस्माइलखाँ तक, आदमी जिधर देखता है, उधर बालुओं की ढेरवाली भूमि, गर्मी के दिनों में, गोंडा-ज़िले (यू० पी०) के सरयू के किसी दियारे का स्मरण दिलाती हैं। बीच-बीच में 'झाऊ' की शकल का 'फराश' वृक्ष भी उसी तरह होता है। इन मरु-जंगलों में जगह-जगह कितने ही ऊँट भी खुले हुए चरते दिखाई पड़ते हैं। इनके खाने के लिए काँटोंवाले वृक्ष भी मिलते हैं। यद्यपि वृष्टि इतनी कम होती है, तथापि सिन्धु-नद की दया से दस-पन्द्रह हाथ खोदते ही कुँओं में पानी निकल आता है। बहुत-से भू-भागों को साल के छः (गर्मी-वाले) महीने नहरें भी सिंचित करती हैं। इन कुओं पर रहट, (घटी-यन्त्र) लगे रहते हैं। तेली के कोल्हू की तरह जितनी दूर में चलानेवाले बैलों की जोड़ी घूमती है, उसके ऊपर अकसर फूस की छत पड़ी रहती है; जिससे बैलों और आदमियों को धूप का कष्ट नहीं होता। तेली के कोल्हू की तरह इसमें भी हाँकनेवाले आदमी के बैठने के लिए जगह रहती है। कुएँ प्रायः रात-दिन चलते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कुएँ के आस-पास कई बीघे ज़मीन हरी-भरी दिखाई पड़ती है।

१०० मील चौड़े हिमालय के चरण से समुद्र-तट तक फैले हुए सिन्धु के आस-पास का भूभाग एक बड़ा ही विचित्र प्रदेश है। किसी समय यहाँ आर्यों की सभ्यता के गढ़ थे। ऋषि लोग पूत-सलिला सिन्धु के तट पर अपने यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान करते, वेदों का गान करते थे।

लेकिन कालचक्र भी कितना प्रबल है। यद्यपि आज भी इस प्रदेश में उन प्राचीन आर्यों की सन्तान ही बस रही है, तथापि उन्होंने एक ऐसे धर्म को स्वीकार किया है जिसकी वजह से वे अपने पूर्वजों को स्वीकार करने से इनकार करते हैं। उनके लिए वे आर्य-पूर्वज और उनकी सभ्यता के प्रत्येक चिह्न घृणा की वस्तु हैं। वे स्वप्न में भी यह ख़याल नहीं करते कि हमारे पूर्वज एक ऐसी सभ्यता के

धनी थे—एक ऐसे साहित्य के स्वामी थे, जिसको देखकर सभी निष्पक्ष समालोचक हृदय से उनका सम्मान करने को तैयार हैं। यूरोप की जातियाँ भी तो हैं, जिनके पूर्वज पूर्वकाल में जंगली जीवन व्यतीत करते थे; किन्तु आज भी उनकी सन्तान उन्हें इनकार नहीं करती। लेकिन क्या इस धर्म-परिवर्त्तन ने, लाखों के इस्लाम स्वीकार करने इनके जीवन में किसी प्रकार का सौन्दर्य पैदा कर दिया ? नहीं। यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही हो जाती है, अगर कोई आदमी फ़ाहियान और ह्यूनसांग के यात्रा-विवरणों में इन प्रान्तों का वृत्तान्त एक बार पढ़कर फिर इन लोगों को ध्यान से देखे। जहाँ पाँचवीं-सातवीं शताब्दियों में इन प्रान्तों के निवासी सभ्य, अत्यन्त कोमलस्वभाव, सत्यवादी, विद्याव्यसनी और कलाकौशल-प्रवीण थे, वहाँ आज उनकी सन्तान क्रूर, झूठी, मूर्ख और दुर्व्यसनी देखने में आती है। इस्लाम को शायद गर्व हो कि वह मूर्तिपूजा जैसी बुद्धि-हीनतापूर्ण पापमयी प्रथा की जड़ काटने में समर्थ हुआ; लेकिन इन प्रान्तों को एक बार भी देखनेवाला कह सकता है कि इस्लाम ने कम-से-कम यहाँ के लोगों से मूर्तिपूजा कदापि नहीं छुड़वाई। फ़र्क सिर्फ़ मूर्तियों के आकार का है। जहाँ हिन्दुओं की मूर्तियाँ कलापूर्ण भिन्न-भिन्न मनुष्यों और जानवरों की शकल की थीं, वहाँ इनकी मूर्ति चौकोर, ऊपर स्तूपाकार, तीन-चार-पाँच हाथ लम्बी क़ब्रों की हैं। इनके ऊपर वस्त्र और मिठाइयाँ भी चढ़ती हैं। लोग हाथ भी जोड़ते हैं, प्रार्थनायें भी करते हैं, लड़के-लड़कियाँ भी माँगते हैं, मुंडन भी कराते हैं। काशी-गया की तरह सख़ी-सर्वर आदि क़ब्र-तीर्थों पर भी सैकड़ों मुसलमान पंडे मुजावर के रूप में हैं, जिनके पास बही-खाते भी हैं और यात्रियों की छीना-झपटी भी होती है। ऊँटों की दोनों तरफ़ लटकती हुई काठी पर चार-चार स्त्री-पुरुष इन दूर-दूर के तीर्थों की यात्रा करते हैं। इनके कण्ठ में विन्ध्येश्वरीदेवी की भाँति हरे कपड़े की चीर बँधी रहती है। इन मुसलमानी तीर्थों में हिन्दू भी बड़ी उदारता से

सम्मिलित होते हैं। इनके जनेऊ, मुंडन ग्रादि संस्कार भी ग्रकसर इन्हीं पीरों के पास सम्पन्न होते हैं।

इधर रेलों में यात्रा करते वक़्त ग्रकसर रात को सिपाही ग्राकर ग्रापसे कहता रहेगा---होशियार रहना। चोरी होने का डर है। मुलतान के पास महमूद-कोट से रेल सिन्धु का साथ पकड़ती है ग्रौर तब तक साथ नहीं छोड़ती, जब तक ग्रटक में पुल से वह उसके पार नहीं हो जाती। मियाँवाली के दक्खिन, रेल पर से, सिन्धु के पश्चिमी तट के पहाड़, क्षितिज पर छोटे काले बादलों की तरह, दिखाई देते हैं। मियाँवाली के बाद पूरब की तरफ़ भी पहाड़ शुरू हो जाते हैं। इन प्रदेशों में शहरों में सिर्फ़ थोड़े-से हिन्दू रहते ग्रौर तिजारत करते हैं। देखने में भी ये लोग मुसलमानों से निर्बल मालूम होते हैं; लेकिन ग्रार्थिक ग्रवस्था इनकी ग्रच्छी है।

पेशावर प्राय: एक लाख की बस्ती का शहर है, जिसमें सिर्फ़ नौ हज़ार हिन्दू हैं। कहने को इधर ग्रँगरेज़ी राज्य है; लेकिन हिन्दुग्रों के लिए तो यहाँ बिलकुल मुसलमानी राज्य ही है। ऐसेम्बली में सीमा-प्रान्त के सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव के पास हो जाने पर तो कितने ही मुसलमान कहने लगे हैं कि हिन्दुग्रों ग्रौर सिक्खों को यहाँ से बोरिया-बँधना समेटकर चल देना होगा।

ग्रटक पर सिन्धु नदी पार करके रेल सीमा-प्रान्त में घुसती है। यहाँ चारों तरफ़ वनस्पति-शून्य पहाड़ ही पहाड़ दिखलाई पड़ते हैं। कई सुरंगों को पार कर रेल पेशावर उपत्यका में पहुँचती है। यह प्रदेश जाड़े में बहुत सर्द रहता है। रात के वक़्त छत पर थाली में यदि पानी रख दिया जाय तो वह जम जाता है। मिट्टी ग्रधिकतर लाल है। नहरें भी जगह-जगह बहती हैं। ग्रप्रैल के प्रथम सप्ताह में यहाँ की फ़सल की दशा वैसी होती है, जैसी बिहार में जनवरी के प्रथम सप्ताह में। देहातों के मकान कच्ची मिट्टी के होते हैं, छतें भी कच्ची मिट्टी की होती हैं। गाँवों में एकाध ऊँची ग्रट्टालिकायें

होती हैं, जो अधिकतर मोर्चाबन्दी के खयाल से हैं। वैसे तो यहाँ भी हथियारों का क़ानून है, लेकिन उनसे सिर्फ़ प्रकट हथियार रखना ही रुक सका है। नहीं तो आग्नेय अस्त्र यहाँ प्रायः सबके पास होते हैं। पेशावर के पास की भूमि उर्वरा मालूम पड़ती है। इधर बग़ीचे लगाने का बड़ा शौक़ है। दूर-दूर तक बग़ीचे लगे चले गये हैं। इनमें तरह-तरह के अंगूर, अनार, नाकें, नासपाती, नारंगी, ख़ूबानी, बादाम, शहतूत आदि के लता-वृक्ष लगे हुए हैं। पेशावर का गन्ना भी बहुत मशहूर है। आमतौर पर दिल्ली से पश्चिम गँडेरियों का देश है। पंजाब के सभी शहरों में गँडेरियाँ बेंचनेवाले वैसी ही अधिकता से मिलते हैं, जैसे पूर्व में पानवाले। गँडेरियों के चूसने का रवाज स्त्री-पुरुष सभी में है। पेशावर में तो किसान फ़सल के बाद भी अपने-अपने खेतों में मिट्टी के नीचे गन्ने को ढँक कर उसी तरह हिफ़ाज़त से रखते हैं, जैसे तम्बोली पान को।

पेशावर शहर स्टेशन से दूर है। स्टेशन पर उतरते ही पुलिस पीछे पड़ जाती है और बिना वल्दियत-सकूनत बनाये जान नहीं छोड़ती। यात्री को यही मालूम होता है कि हम एक दूसरे लोक में चले आये हैं। रात के वक़्त स्टेशन से शहर जाना बहुत ख़तरनाक है। जानवाले यात्री पेशावर-छावनी पर उतरा करते हैं। कितनी ही बार ताँगों के घोड़ों को गोली से मारकर मुसाफ़िर लूट या पकड़ लिये गये हैं। शहर में प्रवेश करने के लिए दरवाज़े हैं, जो रात को बन्द हो जाया करते हैं। हर एक दरवाज़े पर पुलिस की सशस्त्र चौकी है। कई में एम्बूलेंस का भी इन्तजाम है। सिपाहियों की वर्दियाँ पंजाब की-सी हैं। सुरक्षा के लिए शहर से जानेवाली सड़कों पर भी कँटीले फाटक लगे हुए हैं। रास्तों की बग़ल में कँटीले तारों का घेरा है। ये कँटीले तार तीन-चार हाथ के अन्तर से दुहरी पंक्तियों में हैं, जिनकी बीचवाली फाँक में भी कँटीले तार उलझाये हुए हैं। यह किस लिये? लुटेरे पठानों से बचने के लिए।

पेशावर की एक लाख की आबादी में दस हज़ार से ज़्यादा हिन्दू न होंगे; लेकिन हैं ये बड़े-बड़े व्यापारी, साहूकार, ठीकेदार। कुछ दफ़्तरों में भी नौकर हैं। सनातन-धर्म-स्कूल और नेशनल (आर्य) स्कूल के अतिरिक्त तीन-चार और भी स्कूल हैं। लेकिन पढ़ने का शौक़ शहरों ही तक परिसीमित है।

कोहाट—पेशावर से कोहाट ४० मील से कुछ ही ऊपर होगा। दिन के वक़्त लारियाँ तथा मोटरें बराबर किराये पर जाया करती हैं। पेशावर से दस-बारह मील के बाद ही खेतों में फ़सल दुर्बल मालूम होने लगती है। बीच-बीच में सड़क पर मोर्चाबन्द सरकारी सशस्त्र पुलिस-चौकियाँ हैं। सड़क अच्छी है। बीच में कितने ही गाँव पड़ते हैं। लड़के अच्छे, गोरे तथा हट्टे-कट्टे होते हैं; लेकिन कपड़े बहुत ही मैले-कुचैले। स्त्रियों के कपड़े रंग-बिरंगी गुदरियों के-से होते हैं। इन पठानियों में बुर्क़ा का पता नहीं। नीचे पायजामा, ऊपर घुटनों तक का घाँघरेदार-सा जामा या कुर्ता होता है और सिर पर ओढ़नी। स्नान की तरह ही इनके बाल भी शायद साल भर में एकाध बार ही धोये-गूँथे जाते होंगे। इन गाँवों में गदहे, मुर्ग़, कुत्ते ही अधिक दिखलाई पड़ते हैं।

ग़ैर इलाका—१६-२० मील के बाद अन्तिम चौकी मिलती है, जहाँ का साइनबोर्ड बतलाता है—

"Trible territory go carefully" यहाँ से स्वतन्त्र सरहदी जातियों का प्रदेश शुरू होता है। सड़क ऊँचे-नीचे नालों को पार करती हुई आगे बढ़ती है। खेतों की फ़सल की अवस्था यह है कि जहाँ पेशावर के पास कमर और छाती तक के गेहूँ थे, वहाँ यहाँ एक बालिस्त के छोटे-छोटे दूर-दूर उगे पौधे हैं। एक बीघे में मुश्किल से एक मन अनाज होता होगा। लेकिन साथ ही आबादी कम नहीं। मील भर के भीतर ही सड़क पर दो-दो, तीन-तीन तक छोटे-छोटे गाँव मिले। इस प्रदेश में घुसते ही आदमी



पेशावर में स्वतन्त्र इलाक़े के निवासी

बिना बतलाये ही समझ जाता है कि हम किसी दूसरे देश में आ गये हैं। प्रत्येक गाँव में सड़क के किनारे पचीसों पठान अपनी-अपनी बन्दूकें लिये रमज़ान के महीनों में मिलेंगे। अपनी खेती देखने के वक़्त भी पठान के पीठ पर बन्दूक ज़रूर रहेगी। बन्दूक़ों की अधिकता इतनी है, जितनी लठधर क़ौमों में लाठियों की भी नहीं। सड़क के पास भी बन्दूक़ों के बनाने के कारख़ाने हैं। मैंने अपने साथी से पूछा—"ये बन्दूक़ों को इतनी अनिवार्यता के साथ क्यों रखते हैं?" उसने मुझे बतलाया—"इनमें आपस में भी बड़ी दुश्मनी रहती है, जिसकी वजह से कोई अपने को सुरक्षित नहीं समझता। देखते नहीं प्रत्येक गाँव में क़िलेबन्दी है; दरवाज़े बड़े मज़बूत हैं। जगह-जगह (दीवारों में) बन्दूक़ चलाने के सूराख बने हैं।"

ये जातियाँ बराबर एक दूसरे से लड़ती रहती हैं। इसी लिए कोई भी आदमी अपनी जान की ख़ैरियत नहीं समझता। ये लोग लूट-मार करना अपना कर्तव्य समझते हैं, यह बात बड़ी आसानी से समझ में आजाती है, यदि इनकी धार्मिक शिक्षा और ऐतिहासिक भावों के अतिरिक्त हम इनके गाँवों की आस-पास की भूमि को देखें, जिनमें एक बीघे में एक मन भी अन्न पैदा होना कठिन है। लूट-मार से मिले मुफ़्त के माल के कारण परिश्रम करने में शायद इनकी तबीअत भी नहीं लगती। यही वजह है, जहाँ इसी उपत्यका में पेशावर के पास १० मील तक खेती बहुत ही ज़ोरदार दिखाई पड़ती है, वहाँ इधर की दशा इतनी बुरी है।

कोहाट—ग़ैर इलाक़े के अन्त में सड़क पहाड़ियों पर साँप की तरह चढ़ती मालूम होती है। इन पहाड़ियों से उतरकर थोड़ी ही दूर पर कोहाट का शहर है। इसके पश्चिम और उत्तर की दिशाओं में कुछ दूर पर नंगी पहाड़ियाँ हैं। कोहाट में रेलवे-स्टेशन भी है और फ़ौज की छावनी भी। इस नगर में आबादी अधिकतर मुसलमानों की है। कोई चार हजार के क़रीब हिन्दू होंगे। शहर के भीतर

घुसने के लिए दरवाज़े हैं। पानी के लिए नल लगे हुए हैं। मुख्य बाज़ार में हिन्दुओं की दूकानें अधिक हैं। लेकिन पिछले उपद्रव के बाद अब हिन्दुओं की वह समृद्धि जाती रही। आज उन भीषण घटनाओं को हुए वर्षों हुए; किन्तु अब भी उसके चिह्न बिलकुल कल से प्रतीत होते हैं—खासकर गंदुम-मंडी के आस-पास के महल्ले तथा कराड (हिन्दू) महल्ले की, जहाँ पर अब भी अधिकांश मकान जल कर गिरे हुए हैं। मकानवालों के पास इतना रुपया नहीं कि उन्हें बनवावें। जो थोड़ा-सा रुपया गवर्नमेंट ने ऋण के तौर पर उन्हें दिया है उससे उन्हें पहले रोटी का सवाल हल करना है। बिसातखाना, मनिहारी, हलवाई, अनाज, कपड़ा आदि की ही दूकानें अधिकतर हिन्दू करते हैं। दो वर्ष ही पूर्व जो हिन्दू लाखों के मालिक थे, आज वे दूसरों की कृपा पर निर्भर हैं। जगह-जगह मकानों के जँगलों में जली हुई काली लकड़ियों का टुकड़ा दिखाई पड़ता है। इधर पंजाब में ईंट के मकानों में भी लकड़ी बहुत लगाते हैं। केवल लकड़ी की कड़ियाँ और दरवाज़ों पर ही सन्तोष न कर छतों के पाटने तथा मकान के अनावश्यक शृंगारों के लिए भी बहुत-सी लकड़ी लगाते हैं।

पिछले अवतरण में मैंने पंजाब के पश्चिमी ज़िलों तथा सीमा-प्रान्त के हिन्दुओं की दुर्दशा का वर्णन किया था। किन्तु वस्तुतः वहाँ की अवस्था इतनी शोचनीय है कि बिहारी पाठक शायद उसका अनुमान भी न कर सकेंगे। यह तो पहले ही बतला चुका हूँ कि इधर हिन्दू अधिकतर शहरों और क़स्बों में रहते हैं। और, वहाँ भी वे दस-पन्द्रह सैकड़े से ज़्यादा नहीं हैं। हिन्दुओं को सर्वत्र मुसलमानों की दया पर ही आश्रित रहना पड़ता है। पेशावर शहर में भी मुसलमान ताँगेवाले हिन्दुओं को "हिन्दू काफ़िर" कहकर ही साधारणतया सम्बोधन करते हैं।

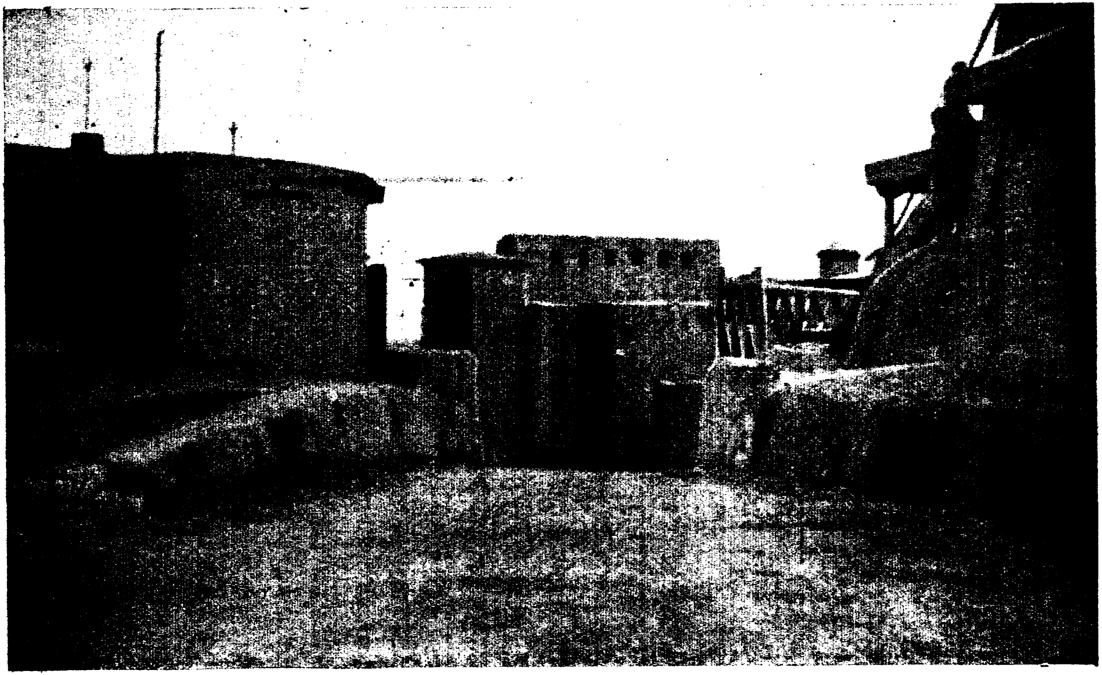
पेशावर से रेल की एक लाइन दर्रा ख़ैबर पार करती हुई काबुल की



ख़ैबर घाटी में रेलगाड़ी

सीमा के पास लंडीखाना तक चली गई है। लेकिन अभी तक गाड़ी लंडीकोतल तक ही जाती है। वहाँ से सीमा ४-५ मील रह जाती है। पेशावर-छावनी से दूसरा स्टेशन इस्लामिया कालेज है। मुसलमानी शिक्षा-प्रचार के उद्देश्य से इस कालेज को गवर्नमेंट ने स्थापित किया है। शहर से दूर, बस्तियों से दूर, इस कालेज और इसके बोर्डिंग की भव्य और विशाल इमारतें दिखाई पड़ती हैं। यहाँ से दूसरा स्टेशन जमरूद है।

जमरूद में फ़ौजी छावनी और राजा हरिसिंह नलवा का क़िला है। राजा हरिसिंह, महाराजा रणजीतसिंह के सेनापति थे। सीमा-प्रान्तीय पठान इतने निर्भीक हैं कि उनका लोहा एक तरह से अँगरेज़ी गवर्नमेंट भी मानती है। वह भी हरिसिंह नलवा से कितना भय खाते थे, यह पठानी माताओं के एक वाक्य से स्पष्ट होता है। वे कहती हैं, 'चुपशो, हरिया रागले!" (चुप रह, हरि आ रहा है)। सच बात तो यह है कि पठान जितने सिक्खों के शासन में शान्तप्रकृति के थे, उतने अब नहीं हैं। गवर्नमेंट की पालसी उन्हें कुछ दे-दिवाकर राज़ी रखने की है, जिससे उनका उत्साह और बढ़ जाता है। एक मर्मज्ञ पुरुष बतला रहे थे, किस तरह एक पठान मालिक या ख़ान (पठानों का सरदार) एक तरफ़ गवर्नमेंट-कर्मचारी को अपनी ख़ैरख़्वाही दिखलाता रहता है और दूसरी तरफ़ किसी पर्वत की आड़ में कितने ही सशस्त्र पठानों को जमा करा देता है। पीछे साहब को कहता है—"देखो साहब, यहाँ भूखे लोग लड़ाई, लूट-पाट के लिए इकट्ठे हो रहे हैं। अब मेरे वश की नहीं।" साहब किसी तरह अनु-नय-विनय कर उन्हें वापस जाने के लिए कहते हैं। अन्त में कुछ रुपया देकर उन्हें उक्त काम से बाज़ रखने का प्रयत्न किया जाता है। आधा रुपया ख़ान की जेब में जाता है और आधे में दस-दस, बीस-बीस रुपये औरों को। इस तरह मुफ़्त का रुपया मिले तो कौन परिश्रम का काम करे! इन लोगों में मर्द सिर्फ़ शिकार और लड़ाई



जमरूद का क़िला

के काम करते हैं। ये हर वक़्त कंधे पर बन्दूक़ लटकाये, कारतूसों की माला पहने, इधर-उधर घूमते अथवा सोते रहते हैं। घर-बाहर का सारा काम स्त्रियों को करना पड़ता है। वही खेत में काम करती हैं, लकड़ी काट लाती हैं, पानी भरती हैं, जानवरों के लिए चारा-घास आदि का प्रबन्ध करती हैं।

जमरूद से थोड़ी ही दूर से पहाड़ और दर्रा ख़ैबर शुरू होता है। ये सारी पहाड़ियाँ सूखी हैं। वृक्ष कहीं-कहीं, वह भी सूखी कँटीली झाड़ियों के एक छोटे से झुरमुट-से दिखाई पड़ते हैं। पत्थरों में पुराने संगखारेवाली चट्टान कदाचित् ही दिखलाई पड़ती है। प्रायः ३० मील की इस ख़ैबर-लाइन पर गवर्नमेंट ने, सुना है, साढ़े चार करोड़ रुपया व्यय किया है! ठेके का काम भी पठानों ही के हाथों में दिया गया था। प्रत्येक पठान मज़दूर १) रोज़ पाता था। इस प्रकार प्रलोभन आदि के सहारे यह छोटी-सी लाइन तैयार की गई है। जगह-जगह पहाड़ी सुरंगों में से लाइन गई है। कई जगह वह चक्कर काटती हुई पर्वतपृष्ठ पर पहुँचती है। मार्ग में ख़ैबर के अन्दर एक पीली मस्जिद है, जिसे अलीमस्जिद कहते हैं। मुसलमानों में किंवदन्ती है कि ख़ैबर फ़तह करते हुए हजरत मुहम्मद साहब के दामाद अली ने यहीं आकर नमाज़ पढ़ी थी। इन पहाड़ियों में जगह-जगह फ़ौजी चौकियाँ हैं। लंडीकोतल की छावनी में गोरखा, राजपूत, गोरा और पंजाबी ये चार पलटनें रहती हैं। बस्ती अभी नई-सी है। जल-कल और बिजली का प्रबन्ध है। यहाँ बीच में लम्बी-चौड़ी मैदानी भूमि भी है। काबुल की सीमा बिलकुल चार-पाँच मील के फ़ासले पर है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि धीरे-धीरे यहाँ की छावनी एक मज़-बूत रूप धारण करेगी। अभी इमारतें अस्थायी हैं। छावनी की सीमा के चारों ओर कँटीले तारों की दोहरी पंक्ति है, जिसके बीच में उल-झाये तारों की छोटी-सी दीवार-सी चली गई है। प्रत्येक सड़क पर ऐसे ही कँटीले तारोंवाले फाटक लगे हुए हैं। रात को वे बन्द कर

दिये जाते हैं। यह सारा प्रबन्ध उपद्रवी पठानों के डर से किया गया है। लंडीकोतल एक तरह की पहाड़ों-सी घिरी समान भूमि के ऊपर है। इन पहाड़ियों पर हर जगह फ़ौजी चौकियाँ हैं। लंडी-कोतल में पहले सिर्फ़ एक छोटा-सा क़िला ही था; लेकिन पिछली लड़ाई के बाद एक अच्छी छावनी बन गई है। यहाँ से आगे सीमा-तटवर्ती लंडीख़ाने तक भी रेलवे-लाइन चली गई है। किन्तु सुरंगें कुछ ख़राब हो गई थीं; इसलिए अभी रेल वहाँ तक नहीं जाती।

लंडीकोतल से चार-पाँच मील पहले ही मे, सड़क के किनारे, एक छोटी-सी पहाड़ी पर पत्थर का एक बौद्ध-स्तूप है। अभी इसका कोई-कोई भाग सुरक्षित है। किसी समय यह—जो अब दूर से ईंटों का ढेर-सा मालूम होता है—हज़ारों यात्रियों का पूज्य-स्थान था। दर्रा ख़ैबर पार करते हुए चीनी यात्री फ़ाहियान और ह्यूनचाँग भी यहाँ ठहरे होंगे। अवश्य ही उस समय यहाँ एक संघाराम भी रहा होगा, जिसमें अनेक तपस्वी विद्वान् बौद्ध भिक्षु रहते होंगे। वे अह-र्निश अपने चारों ओर अहिंसा, भूतदया और प्रेम के साथ विद्या की किरणें फैलाते रहे होंगे। किन्तु काल की गति भी कैसी विचित्र है! आज उनके वंशज जो किसी समय भारतीय संस्कृति के गौरवस्तंभ थे, मूर्खता और क्रूरता की मूर्ति बन गये हैं! जगह जगह गाँव हैं, उनके आस-पास गेहूँ के खेत हैं। गाँवों में अलग-अलग घर नहीं दिखाई पड़ते। सभी एक चहारदीवारी के घेरे के अन्दर हैं। इस चहारदीवारी में भीतर से गोली चलाने के लिए छिद्र बने हुए हैं। प्रत्येक बस्ती में एक या दो ऊँचे-गोले, छोटे कुओं के-से मीनार हैं। ये सभी इमारतें कच्ची हैं। मकानों की छतें भी कच्ची मिट्टी की हैं। मीनारों पर ख़ासतौर से मोर्चेबन्दी शत्रुओं से बचने के लिए की गई है।

ये पठान हर वक़्त एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। जब इन्हें आपस में लड़ने का काम नहीं रहता तब इधर-उधर जाकर लूटमार करते

हैं, इक्के-दुक्के आदमियों को पकड़ कर ले जाते हैं, उनके हाथों पर चारपाई का पैर रखकर सोते हैं, नखों में फाँस ठोंक देते हैं, सर्दी के दिनों में रातों ठंडे पानी में रखते हैं, इसी तरह के और भी नाना भाँति के दुख देते हैं। सम्बन्धियों के नाम पूछते हैं। फिर उनके पास लिख भेजते हैं—'इतने रुपये हमारे पास भेज दो तो हम तुम्हारे आदमी को छोड़ देंगे!' सीमाप्रान्तीय अँगरेज़ी, ग़ैर-अँगरेज़ी दोनों ही पठान सामान्यतः यही लूट-मार का जीवन व्यतीत करते हैं। हिन्दुओं को ही अधिकतर इनका लक्ष्य होना पड़ता है। कोई दस-ग्यारह वर्ष का वृत्तान्त है, एक मालदार हिन्दू (जो पेशावर शहर में रहता था) के घर के सामनेवाली मस्जिद में बहुत-से ख़च्चरों और घोड़ोंवाले बाराती आगये। थोड़ी ही देर बाद साहूकार का मज-बूत दरवाज़ा तोड़ा जाने लगा। उसमें सफलता न हुई तब सीढ़ी लगा-कर ऊपर चढ़ गये! मकानवाले अपना बही-खाता लेकर छत के ऊपर से ऊपर ही दूसरे मकान में चले गये। गलियों में डाकुओं का पहरा था। थोड़ी ही देर में घर का सब माल-धन ख़च्चरों पर लादकर डाकू रवाना हो गये! पठान वस्तुतः खेती करने में मन नहीं लगाते। जो खेती होती भी है उसमें भी उनकी स्त्रियों का हाथ अधिक है। अधिकतर लूटमार और गवर्नमेंट की भेंट पर ही गुज़र करते हैं। पिछले दिनों जब ख़ैबर-लाइन पर प्रत्येक पठान रोज़, कम से कम, एक रुपया कमाता था, तब यह लूट-मार बहुत हद तक कम हो गई थी। मैंने एक आदमी से कहा—"इन पठानों के पास साढ़े चार करोड़ में से दो करोड़ रुपया ज़रूर चला गया होगा। वे इससे बहुत दिनों तक सुखी रह सकेंगे।" उन्होंने बतलाया—"यह रुपया अधिक-तर तो बड़े-बड़े मालिकों के पास पहुँचा है। वही लाइन बनवाने के ठेकेदार रहे हैं। लेकिन रुपया क्या बहुत दिनों तक रह सकता है? उसको किसी व्यवसाय में तो वे लगावेंगे नहीं। बस, सिर्फ़ फ़िज़ूल ख़र्च करेंगे। देखते नहीं, ये लोग कितनी मोटरें उड़ा रहे हैं!

बराबर कबाब और दावतें उड़ रही हैं। बरस-छः महीने में सब ले-दे बराबर हो जायगा। उसके बाद फिर वही गुदड़ी !"

पिछले दिनों जमरूद के पास दो फ़िर्कों में लड़ाई हो पड़ी। मोर्चों से एक-दूसरे पर गोली बरसाने लगे। यह युद्ध कितने ही समय तक जारी रहा। पास ही सरकारी छावनी थी। उनकी गोलियाँ वहाँ तक पहुँचने लगीं। एक-दो सिपाहियों की टाँगें भी टूटीं। इस पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने दोनों पक्षवालों में सुलह कराने का प्रयत्न आरम्भ किया और अन्त में उनकी प्रथा के अनुसार मुल्ला ने दोनों के बीच में, सात वर्ष के लिए, पत्थर लाकर रख दिया। अब लड़ाई, सात वर्ष के लिए, बन्द हो गई है। सात वर्ष बाद यह सेतु फिर टूटेगा !

लंडीकोतल से चार मील और आगे, लंडीख़ाने के पास, 'काफ़िर-कोट' है। यह जगह एक पहाड़ी पर है। यहाँ बौद्ध-काल के पत्थर में कटे हुए मनोहर ध्वंसावशेष हैं। आज ऐसी पवित्र जगहों को जो कभी शत-शत यात्रियों के लिए श्रद्धा का स्थान थीं, उनके ही वंशज मुसलमान "क़ाफ़िरकोट" के समान घृणास्पद शब्द से स्मरण करते हैं! लेकिन क्या इनकी अवस्था अपने पूर्वज "क़ाफ़िरों" से अच्छी है? इस्लाम ने इन्हें क्या प्रदान किया है? क्या इस्लाम ने इनसे बुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) हटा दी? वह तो अब भी वैसी ही है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ वे पहले छोटी-छोटी मूर्तियों को पूजते थे, अब चार-चार छः-छः हाथ लम्बी क़ब्रों को पूजते हैं। भारत में किसी भी जगह इतनी क़ब्र-पूजा नहीं है। प्रत्येक गाँव के पास एकाध क़ब्र ऐसी जरूर है, जिस पर बहुत-सी लाल, पीली, हरी झंडियाँ फहराती रहती हैं, जहाँ एकाध मलंग (फ़क़ीर) या मुजाबिर रहता है। उसका काम भूत, जिन्न दूर करना, गंडे-ताबीज़ बाँधना और लड़का-लड़की देना है! सच तो यह है कि अज्ञान और मिथ्या विश्वास यहाँ षोडश कला से विराजमान है!

रेल की सड़क या पक्की सड़क के पास कितनी ही जगहों में पानीघर बने हुए हैं। पानी की इधर कमी है। सड़कों पर पठान कुलियों को, बन्दूक़ पीठ पर लटकाये देखकर, आपको आश्चर्य होगा। बन्दूक़ का जितना रवाज इनमें है, उतना तो कहीं डंडे-सोटे का भी न होगा! प्रत्येक आदमी के हाथ या पीठ पर बन्दूक़ और गले में कारतूसों का यज्ञोपवीत दिखाई देगा! लंडीकोतल से पेशावर छावनी तक की रेल मानो इनकी अपनी है! बिना टिकट के पठान ड्योढ़े दर्जे में बैठे रहते हैं! किस टिकट-कलक्टर या स्टेशन-मास्टर को अपने प्राणों से बैर है जो इन्हें छेड़े! बराबर मौज से ये सोये-बैठे चले जाते हैं। सड़क छोड़कर बाक़ी आसपास इन पठानों का राज्य है। वे कब गवारा करेंगे कि अँगरेज़ उनकी भूमि में रेल चलावें और उनसे किराया भी वसूल करें! पहले लंडीकोतल से पेशावर छावनी का किराया शायद डेढ़ रुपया रक्खा गया था, अब वह नौ आने कर दिया गया है! लेकिन ये नौ आने भी पंजाबी या दूसरे देशी ही देते हैं। पठानों की तो अपने घर की रेल है!

जमरूद से थोड़ा आगे चलकर दर्रा ख़ैबर शुरू होता है। उसका मुख्य भाग लंडीकोतल से कुछ पहले ही समाप्त हो जाता है। यह फ़ासिला २० मील का होगा। इसके दोनों ओर की वक्ष और जल से हीन पथरीली पहाड़ियाँ अतीत की कहानियों को अब भी, गुप्त रूप से, अपने अन्दर छिपाये हुए हैं। इसी रास्ते से अशोक के प्रचारक भारत से पश्चिम की ओर जाते रहे होंगे। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित सेनायें, सूर्य-वंश और चन्द्र-वंश की ध्वजायें फहराती, इसी चिर परिचित मार्ग से निकल कर कम्बोज, गान्धार, पारसीक, बाह्लीक में फैलती रही होंगी। दारा, सिकन्दर, कनिष्क, महमूद, चंगेज़, तैमूर, नादिर और अहमद की सेनाओं ने इसी रास्ते से होकर भारत पर आक्रमण किया था। इसमें भी शक नहीं कि उस समय इन पर्वत-मालाओं ने हमारी मदद करने में कोई भी कसर उठा न रक्खी होगी। किन्तु

वे अकेली क्या करतीं, जब कि भारतीय आपस में कट-मर रहे थे। एक समय था, जब पटना के चन्द्रगुप्त और अशोक का झंडा "क़ाफ़िर-कोट" की पहाड़ियों पर लहरा रहा था। उस समय यह भूमि देवताओं की भूमि थी। हर जगह प्रेम और भूतदया, ज्ञान और विज्ञान का साम्राज्य था; लेकिन अभागे गन्धार अब तू लुटेरों, हत्यारों, मूर्खों और मिथ्या-विश्वासियों का निवास-स्थान है!

पेशावर से काबुल मोटर जाती है। लंडीखाना तक अँगरेज़ी सड़कें हैं, जो बहुत ही सुन्दर और पक्की हैं। उसके बाद अमीर का राज्य है, जहाँ सड़कें कच्ची और ऊबड़-खाबड़ हैं। अभी मोटरों से इस ७०-८० मील की यात्रा को पूरा करने में दो दिन लगते हैं। लेकिन अब अमीर की तरफ़ से सड़क की सर्वे हो रही है। कुछ ही वर्षों में आगे की सड़क भी पक्की और प्रशस्त हो जायगी। फिर पेशावर से काबुल सात-आठ घंटे का रास्ता रह जायगा। लोग बड़े आराम से पहुँच जाया करेंगे। पहले काबुल के लिए पासपोर्ट की आवश्यकता न होती थी; किन्तु जब से काबुल स्वतन्त्र हुआ, तब से उसका लेना ज़रूरी है और वह मिलता भी बड़ी कठिनाई से है।

अमीर अमानुल्ला वस्तुतः मुस्तफा कमाल के समान काम करने में सफल हुए होते, यदि उन्हें भी तुर्कों की-सी क़ौम मिली होती। वे बराबर इसी प्रयत्न में थे कि अफ़ग़ानिस्तान में विद्या और विज्ञान का ख़ूब प्रचार हो जाय। लोगों का मिथ्याविश्वास और धर्मान्धता दूर हो जाय। स्त्रियाँ विदुषी हों। सारे अफ़ग़ानिस्तान-निवासी, चाहे वे मुसलमान हों या हिन्दू, प्रेम के एक सूत्र में बँध जायँ।

अफ़ग़ानिस्तान में पहले जो हिन्दू मुसलमान होता था, उसे राज-कोष से कुछ पारितोषिक मिलता था, उसकी जजिया माफ़ हो जाती थी, उसे किसी ख़ास प्रकार की पोशाक पहनने की आवश्यकता न रह जाती थी, लेकिन अब तो बात ही दूसरी है। अब हर एक अपने लिए अफ़ग़ान लिखाता है, हिन्दू या मुसलमान नहीं। सबकी एक

पोशाक और एक भाषा पश्तो है। जज़िया आदि का नाम नहीं। हिन्दू-मुसलमानों के पृथक् स्कूल नहीं हैं, सब एक ही जगह पढ़ते हैं। जर्मनी पढ़ने के लिए गये लड़कों में अनेक हिन्दू अफ़ग़ान भी हैं। अमीर हर तरह अपनी हिन्दू-प्रजा को समान अधिकार देने के पक्ष में हैं। फ़ौजी, मुल्की, सभी पदों पर वे हिन्दुओं को भी देखना चाहते हैं। किन्तु अफ़ग़ानिस्तान के हिन्दू अभागे हैं। मूर्खतावश तरह तरह के ढंगों से अपने लड़कों को उन स्थानों से हटाने की कोशिश करते हैं! उधर मुल्ला लोग भी हर वक़्त कुफ़्र का फ़तवा देने के लिए तैयार बैठे रहते हैं! इसी लिए अमीर को प्रत्येक सुधार में फूँक-फूँक कर पैर रखना पड़ता है। अभी समय की आवश्यकता है। नई पीढ़ी के सयानी हो जाने भर की देर है। फिर मौलवियों का भूत अफ़ग़ानों के सिर से दूर हो जायगा। यूरोप से पहली टोली उधर लौट आवे, इधर स्कूलों से नई युवक-श्रेणी निकल जाय, फिर अमीर का हाथ मज़बूत हो जायगा। आज मौलवियों के विरोध से, जो कुछ दिनों के लिए उन्हें कन्या-पाठशाला बन्द कर देनी पड़ी, यह नौबत तब न आयेगी। सुशिक्षित और स्वतन्त्र अफ़ग़ानिस्तान एशिया की बड़ी शक्तियों में होगा।

उस तरफ़ काबुल की तो यह दशा है, लेकिन इधर पंजाब और सीमाप्रान्त की अवस्था देखें तो आकाश-पाताल का-सा अन्तर मालूम होगा। इन प्रान्तों में मुसलमानों का आधिक्य है। वे सब तरह से हिन्दुओं को कुचलने और अपना ग़ुलाम बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। पंजाब में ९० फ़ी सदी इन्कमटैक्स की आमदनी हिन्दुओं की जेबों से आती है। सर फ़ज़ली हुसेन के मिनिस्टर होते ही हिन्दुओं पर विपत्ति के पहाड़ टूटने लगे। स्कूलों में इन्कमटैक्स के अनुसार पढ़नेवाले विद्यार्थियों से फ़ीस लेने का नियम बना, जिससे हिन्दुओं को अधिक फ़ीस देनी पड़ने लगी। स्कूलों की ग्रांट पहले तो हिन्दू-स्कूलों को मिलती ही मुश्किल से है और जो मिलती भी है उसमें उनकी फ़ीस

मुजरा कर दी जाती है, जिससे सरकार से हिन्दू-स्कूलों को बहुत कम रुपया मिलता है। उधर मुसलमानी स्कूलों के लिए ख़ज़ाना खोल दिया गया। ग्रांट भी आसान और अधिक, फ़ीस कम! शिक्षा-विभाग के सभी पदों से हिन्दू पृथक् किये जा रहे हैं।

शिक्षा में ही नहीं, हिन्दुओं को भूमि से भी वंचित करने के लिए पंजाब में क़ानून है, जिसके अनुसार पंजाब के भिन्न-भिन्न ज़िलों में कितनी ही जातियाँ ग़ैर-जरायत पेशा (अकृषि-व्यवसायी) मानी गई हैं। ये जातियाँ अपनी जगहों में ज़मीन नहीं ख़रीद सकतीं। यद्यपि हिन्दू धीरे धीरे भूमि से वंचित हो रहे हैं; वे गाँवों से शहरों में भागे जा रहे हैं; लेकिन यहाँ भी क्या उन्हें चैन की नींद नसीब होगी? आज-कल एक नये साहूकारी क़ानून की भी बात है। इसके द्वारा हिन्दुओं के इस व्यवसाय को भी नष्ट कर दिया जायगा! कितने ही हलवाई आदि के व्यवसाय—जो हिन्दुओं के हाथ में चले आते थे—का बायकाट करके अब मुसलमानों ने अपना चलाना शुरू किया है, और उसमें वह काफ़ी सफलता भी पा चुके हैं। सरकारी नौकरियों से भी हिन्दू निकाले और मुसलमान रक्खे जा रहे हैं! प्रतिष्ठित मुसलमान मुस्लिम एशोशियेशनों के डेपुटेशन बड़े अधिकारियों तक ले जाकर इस तरह की कोशिशें कर रहे हैं। हर एक बात में मुसलमान हिन्दू-मुस्लिम सवाल उठा रहे हैं। बस्ती से बाहर-वाले हिन्दू-मन्दिरों और देव-स्थानों की कब ख़ैरियत होगी, जब कि भीतरवाले अक्सर भ्रष्ट कर दिये जाते हैं! हिन्दू स्त्रियों और बच्चों को बहकाने की घटनायें सामान्य हो गई हैं। सरकारी, ग़ैर-सरकारी, सभी जगहों में उन्हीं की तूती बोल रही है! हिन्दुओं की जगहों को क़ब्र या पूजा-स्थान के बहाने से ज़बरदस्ती दख़ल कर लिया जाता है! अभी हाल ही में पेशावर में एक हिन्दू के बाग़ में रातोंरात मस्जिद तैयार हुई थी। ऐसी घटनायें हज़ारों मिलेंगी। खुले बाज़ारों में, पेशावर की तरफ़, गोमांस बेचा जाता है। नौकरी, भूमि, व्यापार

सभी से जिस प्रकार हिन्दू निकाले जा रहे हैं, उससे पता लग रहा है कि हिन्दुओं का भविष्य अन्धकारमय है!

६—पुणछ (पूँछ) राज्य

पुणछ—कश्मीरराज्य के अधीन कई छोटे-छोटे राज्य हैं, जिनमें एक यह रियासत भी है। पुणछ का राज-परिवार कश्मीर-राज-परिवार की शाखा है। भूमि बिलकुल पहाड़ी है। ऊपरी भाग की पर्वत-शृंखला सदा तुषाराच्छादित रहती है। पहाड़ अधिकांश हरे-भरे हैं। राजधानी पुणछ (पूँछ) है, जो पर्वतों की जड़ में पुणछ नदी के तट पर समुद्रतल से ३,३०० फ़ुट ऊपर है। जाड़े के दिनों में यहाँ बर्फ़ पड़ जाया करती है, लेकिन नदी का स्रोत नहीं रुकता। पैदावार अधिकतर चावलों की है, लोगों का प्रधान खाद्य भी चावल ही है। गेहूँ, मक्की आदि अन्न भी होते हैं। जिस तरह कश्मीर में केसर पैदा होती है, उसी तरह पुणछ गुच्छियों के लिए मशहूर है। यह कुकुरमुत्ते (छत्ते) की जाति का पदार्थ है। सुखाकर इसे दूर-दूर तक भेजा जाता है। पुणछ में भी सूखी गुच्छियाँ साढ़े तीन रुपये सेर मिलती हैं। लाहौर आदि शहरों में इनकी दर पाँच-छः रुपये सेर तक होती है। पंजाबी तथा कश्मीरी लोगों की दृष्टि में गुच्छियों की तरकारी एक ख़ास नियामत है।

लम्बे बालोंवाली बकरियाँ तथा भेड़ें वहाँ बहुत पाली जाती हैं। देश शीतप्रधान है, अतः गर्म ऊनी कपड़े की आवश्यकता पड़ती है। पुणछ के किसी किसी स्थान की लोइयाँ खासतौर से प्रसिद्ध हैं। कश्मीर की भाँति यहाँ भी हिन्दुओं की संख्या बहुत कम सिर्फ़ ५ फ़ी सदी है। देहातों में सिर्फ़ मुसलमानों की ही बस्ती देखने में आती है। हिन्दू सिर्फ़ शहरों और बाज़ारों में रहते हैं, और दूकानदारी या नौकरी करते हैं।

पुणछ-राज्य की आबादी ४ लाख है, और क्षेत्रफल प्रायः १ हज़ार

वर्गमील। मालगुज़ारी से ग्रामदनी साढ़े चार लाख, चुंगी से ढाई लाख, जंगलों से तीन लाख और स्टाम्प से ६० हज़ार है। वर्त्तमान राजवंश तभी से स्थापित है, जब महाराज गुलाबसिंह ने पंजाब के सिक्खों के हाथ से निकल जाते वक्त अँगरेज़ों के हाथ से कश्मीर को ख़रीदा। पहले पुणछ को जागीर के तौर पर कश्मीर के महाराज ने अपने भाई को दिया था, किन्तु अब यह एक अधीन रियासत के रूप में परिणत हो गया है। जिस प्रकार ब्रिटिश गवर्नमेंट देशी रियासतों पर निगाह रखती है, वैसे ही कश्मीर-राज्य इस पर निगाह रखता है। इसके अतिरिक्त राजा का प्राइवेट सेक्रेटरी तथा एडवाइज़र (परामर्शदाता) एक अँगरेज़ है, जो ब्रिटिश गवर्नमेंट के पोलिटिकल विभाग का आदमी है।

उपज—फ़सल अधिकतर चावल और मक्की पर अवलंबित है। गेहूँ, मोठ आदि भी उत्पन्न होता है। गुच्छियाँ ख़ासकर प्रसिद्ध हैं। देवदार, दयार और चीड़ की लकड़ियाँ बहुत पाई जाती हैं। मकानों में लकड़ी और पत्थर का इस्तेमाल होता है। पुणछ शहर में राजमहल तथा दूसरे मकानों की छतें भी टीन की हैं। गर्मी के दिनों में भी ठंडा होने के कारण टीन के तपने का डर नहीं है। पहले यहाँ लोहा निकाला जाता था, किन्तु अब यह व्यवसाय बन्द हो गया है। कोयले, सीसे, ताँबे के भी होने का पता मिलता है, किन्तु उन पर काम नहीं होता।

भाषा, वेष-भूषा—भाषा जम्बूवाली डोंगरी, वेष-भूषा प्रायः पंजाबी है। पुरुषों की पोशाक पायजामा (सलवार नहीं), कमीज़, कोट, साफा है। स्त्रियाँ चूड़ीदार पायजामा, कमीज़ और ओढनी पहना करती हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही समानभाव से जूता पहनते हैं। पंजाब की भाँति यहाँ भी गलियों, छतों, बर्तनों आदि की सफ़ाई पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। देहाती लोग बड़े गन्दे कपड़े पहनते हैं।

पुणछ-राज्य में हिन्दुओं और सिक्खों दोनों की संख्या प्रायः बराबर है। सिक्ख अधिकतर ब्राह्मण-जाति के हैं, और खेती का काम करते हैं। कहीं कहीं नौकरी के लिए आये हुए कश्मीरी ब्राह्मण भी पाये जाते हैं। मुसलमानों में अधिक संख्या सुद्धन (जो ब्राह्मण थे), मंगराल (राजपूत), चिब (राजपूत), गूजर आदि की है। ये कट्टर मुसलमान हो गये हैं, किन्तु तो भी अभी जातिपाँति मानते हैं, और अपने से नीची जाति को लड़की नहीं देते। गूजरों में स्त्रियों के नाम कहीं कहीं लक्ष्मी आदि भी पाये जाते हैं।

७—कश्मीर

(क)

भारतवर्ष का स्वर्ग कश्मीर हिमालय की पर्वतमालाओं के मध्य में अवस्थित है। कश्मीर की आबादी में ९५ फ़ी सदी मुसलमान और ५ फ़ी सदी हिन्दू हैं। हिन्दुओं में वे हिन्दू भी शामिल हैं जो महाराज रणजीतसिंह की कश्मीरविजय के बाद से अब तक आकर बसते रहे हैं। ये आगन्तुक लोग सैकड़ों वर्ष से यहाँ आ बसे हैं, तो भी भाषा और वेष के विचार से अभी तक कश्मीरी नहीं हुए। कश्मीर में पंजाब से आकर बसनेवाले सिक्खों में मोहिपालो (भूमि-हारों) की संख्या पर्याप्त है। ये लोग साधारणतः ग्रामों में रहते हैं और खेती का काम करते हैं। मुसलमान १३ लाख हैं, और कश्मीरी ब्राह्मण ५५ हज़ार के क़रीब। मुसलमानों में थोड़ों को छोड़कर बाक़ी सभी उन कश्मीरी हिन्दुओं की सन्तान हैं जो मुसलमानी शासन-काल में ज़बरदस्ती मुसलमान बनाये गये थे। कश्मीरी हिन्दू-मुसलमान दोनों की पोशाक एक लम्बा चोग़ा है, जो कुर्ते की तरह का होता है। बाहें कुछ चौड़ी और ज़रूरत से अधिक लम्बी होती हैं। सर्दी से बचने के लिए हाथों को इसके भीतर किया जा सकता है। स्त्रियों और पुरुषों के चोग़े में कोई भेद नहीं। पुरुष सिर पर कुलाह के साथ पगड़ी (साफा) बाँधते हैं। स्त्रियाँ भेड़ के बालों के साथ

मिला कर केशों की अलग अलग रस्सियाँ बटकर पीठ पर छोड़ देती हैं। सिर पर साधारणतया एक छोटी-सी चादर रखती हैं, जो पीठ पर लटकती रहती है। कोई कोई चादर के नीचे टोपी भी रखती हैं। पंडिताइनों की चादर के नीचे सिर से पैरों के पास तक कपड़े की पतली चिट-सी लटकती है, तथा वे लाल या किसी और रंग के कमरबन्द से कमर भी बाँधे रहती हैं। पैरों में जूता या चप्पल होती है।

कश्मीरी मकान नैपाली मकान से बहुत कुछ मिलते हैं। ये तीन तल्ले-चौतल्ले होते हैं। ग्रामों में इनकी छतें फूस की भी होती हैं, किन्तु शहरों और क़स्बों में लकड़ी की टाइलें इस्तेमाल की जाती हैं, नीचे भोजपत्र की तहें भी अकसर दी जाती हैं। इन छतों पर प्रायः लम्बी लम्बी घास-सी उगी हुई देखने में आती हैं। शहरों में धनिक लोग अब टीन का भी प्रयोग करने लगे हैं। देवदार, दयार, चीड़ आदि लकड़ियों की यहाँ इफ़रात है। मकानों में भी लकड़ी का काम अधिक है। दीवारों के ढाँचे में भी लकड़ी का भाग अधिक होता है। छतें और पटाव केवल लकड़ियों के होते हैं। लकड़ियों में खुदाई और फूल-पत्ती का काम भी अच्छा देखने में आता है। कश्मीरी गलियाँ बड़ी गन्दी होती हैं। कश्मीरी लोग गन्दगी में तिब्बती या चीनी लोगों से शायद थोड़े ही कम होंगे। इनकी गलियों में नाक पर कपड़ा दिये बिना जाना बहुत ही कठिन है। कश्मीरी पंडितों में शिक्षा अधिक है, किन्तु वे भी घरों में पायखाने बनाने की आवश्यकता नहीं समझते। गलियाँ और आँगन ही पायखाने का काम देते हैं।

कश्मीरी ब्राह्मण—जैसा कि ऊपर कहा गया, इनकी संख्या ५५ हज़ार है। शिक्षा में ये बहुत बढ़े-चढ़े हैं। ग्रेजुएटों की संख्या भी अधिक है। बंगालियों की भाँति कश्मीरी ब्राह्मण क्लर्की तथा दूसरी नौकरियों के पीछे मरते हैं, व्यापार और दूसरे श्रमवाले व्यवसायों की ओर

प्रयत्न नहीं करते। यही कारण है, जो अब इनमें बेकारी बहुत बढ़ चली है। ग्रेजुएट बीस बीस रुपये की नौकरियों के लिए मारे-मारे फिरते हैं। छोटी अवस्था की लड़कियों की शादी का रवाज है, इसकी वजह से विधवाओं की संख्या भी बढ़ रही है, और विधवा-विवाह की प्रथा न होने से गर्भपात आदि की संख्या भी बढ़ रही है। शहर के बाहर रहनेवाले कितने ही ब्राह्मण विवाह के बिना भी रहने पर बाध्य हो रहे हैं, जिसके फलस्वरूप कुछ केवल विवाह के लिए मुसलमान भी हो गये हैं। युवती विधवाओं के कारण समाज में गन्दगी बहुत फैल रही है। युवक कश्मीरी ब्राह्मणों में कुछ विधवा-विवाह के भी पक्षपाती हैं, किन्तु अभी विरोधियों की संख्या अधिक है। ब्राह्मण पिछली मनुष्य-गणना में बड़ी कठिनाई से अपनी संख्या यथा-पूर्व क़ायम रख सके हैं। एक शिक्षित ब्राह्मण का कहना है कि विधवाओं और अविवाहितों में असन्तोष तथा इस्लाम की ओर का प्रलोभन अगली मनुष्य-गणना से हमारी संख्या घटाना शुरू करेगा। अपनी जाति की अवस्था पर अफ़सोस करते हुए उन्होंने कहा था—हमारे लोग न आदिम जाति के हैं, न आधुनिक जाति के, न ईमानदार, न बेईमान, न धर्मात्मा, न अधर्मी, अर्थात् यह जाति ही बिलकुल अनिर्वचनीय है। उनको यह बड़ी शिकायत है कि हमारी जाति में विश्वासघात का अंश बहुत अधिक है; उन्होंने इसका उदाहरण दिया। एक पंडित ने लिखकर एक पतित ब्राह्मण को शुद्धि की व्यवस्था दी, किन्तु अब कह रहा है कि यह मेरी व्यवस्था नहीं। कश्मीरी ब्राह्मणों के लिए ख़तरे का घंटा बज चुका है।

लोगों का प्रधान खाद्य चावल (भत्ता) और मूँग की दाल है। मैथिल ब्राह्मणों से आहार और विद्या-बुद्धि म ये लोग बहुत अधिक मिलते हैं। इनमें भी शक्ति-उपासना के साथ साथ पंचमकारी वाममार्गी भी पाये जाते हैं। यद्यपि ये लोग एकान्त में स्वयं मद्यसेवन करते हैं, किन्तु बाहर समाज के चौधरी भी हैं। चौका-धर्म यहाँ भी है, किन्तु

बिहार से यहाँ कुछ अन्तर है। भात-दाल को बनाकर एक टोकरी में रखके ऊनी कपड़े से लपेट उसे लकड़ी में लटका कर मुसलमान नौकर के हाथ भेजा जा सकता है। पानी भी मुसलमान का भरा पिया जाता है। बर्तन भी मुसलमान नौकर साफ़ कर सकता है। ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि उसका हाथ स्पर्श न करे। ऊनी कपड़े को लपेट कर छूने में कोई हर्ज़ नहीं

आप किसी कश्मीरी ब्राह्मण मित्र के पास जायें तो आपकी चाय से ख़ातिर की जायगी। इस तरह के उष्ण पेय पदार्थों के तैयार करने के लिए कश्मीरियों ने एक नये प्रकार के बर्तन का आविष्कार किया है, जिसे समावर कहते हैं। आजकल समावर के नाम से यह यूरोप तक के सर्द प्रदेशों में फैल गया है। इसके बीच में एक नली कोयला डालने की होती है, जिसमें निचले भाग के छोटे-छोटे सुराखों से हवा आने का रास्ता होता है। नली के चारों तरफ़ के बर्तन में पानी और चाय की पत्तियाँ डाल कर बन्द कर दिया जाता है। पीने से पूर्व चीनी और इलायची, सोंठ, दालचीनी का चूर्ण डाल दिया जाता है। दूध डालने तथा चाय को छान कर पीने की प्रथा नहीं है। छोटी-छोटी फूल की कटोरियाँ आपके सामने आयेंगी किन्तु ख़बरदार आप नंगे हाथों से मत उठावें, अन्यथा आपके आचार पर सन्देह किया जायगा। आप उसे कपड़े से पकड़ें? खाने के लिए यदि कुलचों की टिकियाँ आवें तो उसे भी कपड़े से पकड़ कर खायें। कपड़ा चाहे साल भर से धोबी के घर न गया हो, कोई परवा नहीं, हाथ का साक्षात् स्पर्श सर्वथा निषिद्ध है। उसी फ़र्श पर यदि मुसलमान भी बैठा हो तो भी चाय या पानी पिया जा सकता है। वस्तुतः यदि कश्मीरी ब्राह्मणों के धर्म को चौका-धर्म न कह कर वस्त्र-ढाँकन-धर्म कहा जाय तो अच्छा।

(ख)

कश्मीर के पुराने इतिहास की कुछ कहावतें भी सुनने में आती हैं।

पुराने समय में श्रीनगर में एक हिन्दू राजा था। उसकी रानी बहुत ही सुन्दर तथा प्राणों से प्यारी थी। किसी समय उसके देश पर हिन्दुस्तान की तरफ़ से चढ़ाई हुई। राजा स्वयं सेना को लेकर मुक़ाबिले के लिए गया। रानी नित्य देव-मन्दिर में अपने बूढ़े व्यास से कथा सुना करती थी। एक दिन व्यास का शरीर कुछ अस्वस्थ हो गया। उनको सिर्फ़ एक ही विधवा लड़की थी, जिसको एक युवा विद्वान् पुत्र था। नाना ने नाती को कथा बाँचने के लिए भेज दिया। जिस समय युवक व्यास अपने व्यासासन पर बैठा, उसी समय रानी मन्दिर में प्रविष्ट हुई। वृद्ध व्यास के भ्रम से रानी ने किसी प्रकार का पर्दा नहीं किया था। युवक देखकर मोहित हो गया। घर लौटने पर काम-मोहित युवक अस्वस्थ हो गया। माता ने कारण पूछा। युवक ने बड़े संकोच के साथ अपने को मरणासन्न समझकर सब बात सच सच कह दी। अब माता को अपने इकलौते पुत्र को बचाने की फ़िक्र हुई। रानी नित्य दान दिया करती थी। ब्राह्मणी दरबार में गई। रानी ने उससे कहा—"जो चाहो माँगो।" ब्राह्मणी ने प्रतिज्ञा ले कहा—"आप मेरे पुत्र को पुनर्जीवित करें।" रानी बड़ी चिन्ता-ग्रस्त हुई, किन्तु वचन हार चुकी थीं। पुराने व्यास के अभाव में एक नये पंडित उस दिन कथा सुनाने आये। रानी ने कथा में पूछा—"मनुष्य के धर्म जाने पर यदि किसी दूसरे का प्राण बचता हो तो क्या करना चाहिए।" पंडित ने कहा—"शास्त्र कहता है, किसी के प्राण को बचाने के लिए यदि तुम्हें अपने धर्म को त्याग करना हो तो करना चाहिए।" रानी ने इस शिक्षा के अनुसार ब्राह्मणपुत्र के लिए अपने सतीत्व को छोड़ दिया। पीछे जब बूढ़े व्यास लौट आये तब उसने उनसे भी वही प्रश्न किया—"किसी के प्राण को बचाने के लिए अपना धर्म देना चाहिए या नहीं?" व्यास ने कहा—"चाहे किसी का प्राण जाये या रहे, किन्तु धर्म नहीं दिया जा सकता।" रानी ने पूछा "यदि धर्म इस तरह दे दिया गया हो तो उसका प्रायश्चित्त क्या है?"

व्यास ने बताया—"यही कि वह अपने शरीर को भस्म कर दे।" रानी ने दूसरे दिन भयंकर प्रायश्चित्त कर डाला। होते होते यह समाचार सारे शहर में फैल गया। मंत्री ने देखा, यदि राजा अपनी प्रियतमा रानी की मृत्यु की ख़बर पायेगा तो न जाने हमारी क्या दुर्गति करे, अतः चुप ही रहना अच्छा है। राजा जिस समय शत्रु को विजय कर राजधानी में लौटा, उस समय उसने कहीं आनन्द का चिह्न न देखा। मन्त्री से पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसके वियोग को न सह कर रानी ने अपने शरीर को छोड़ दिया। राजा यह सुनकर बहुत ही शोकाकुल हुआ। किन्तु धीरे धीरे वह शोक भी जाता रहा। एक समय जब भेस बदल कर राजा नगर में घूम रहा था तब उसने रुष्ट हुई धोबिन के मुँह से अपने पति के लिए यह शब्द सुने—"जाओ, परवा क्या है ? तुम न रहोगे तो दूसरे के साथ आनन्द करूँगी और फिर आग में जल कर स्वर्ग चली जाऊँगी।"

राजा उस दिन यह बात सुनकर चला आया। दूसरे दिन उसने धोबिन-धोबी को दरबार में बुलाया। भय दिखाने पर उन्होंने रानी की सच्ची कथा कह सुनाई। उसकी तसदीक मंत्री और दूसरों को भी करनी पड़ी। कहते हैं, इस पर राजा ने दोनों पंडितों को बुलाया। दोनों शास्त्रों की दुहाई देकर अब भी अपनी बातों पर अड़े थे। राजा ने असली तत्त्व पा लिया, और तब से वह शास्त्रों से घृणा करने लगा। उसने अपनी सेना के साथ छापा मार कर नगर के सभी पंडितों के घरों से पुस्तकें निकाल लीं। जब जल में उन्हें फेंकते फेंकते उसने समझा कि उसका पानी ख़राब हो जायगा तब कहते हैं, उसने रैनाबाड़ी से निशान तक एक खन्दक खुदवाई और उसी में सारे ग्रन्थों को दफन करा दिया।

अन्तिम हिन्दू राजा के समय में लद्दाख से एक आदमी कश्मीर आया। वह अपनी प्रतिभा और वीरता से धीरे-धीरे प्रधान सेनापति हो गया। उसी समय बाहर के किसी शत्रु ने कश्मीर पर आक्रमण

किया। उधर तो सेनापति सेना के साथ मुक़ाबिले के लिए गया, इधर ज्योतिषियों से अनिष्ट-फल की व्यवस्था सुनकर राजा वैरागी हो महलों से निकल गया। सेनापति रिन्चन् ने लड़ कर शत्रु को परास्त किया। जब लौटकर राजधानी में आया तब देखता है, राजा नदारद। पीछे वह स्वयं गद्दी पर बैठा। अब तक रिन्चन् ने कोई धर्म नहीं माना था। अब उसने पंडितों को बुलाकर कहा कि हमको अपने धर्म में लो। धर्मभीरु पंडितों ने कहा कि गदहा घोड़ा नहीं हो सकता। आप हिन्दू के घर में पैदा नहीं हुए, अतः हिन्दू नहीं हो सकते। राजा बहुत दिनों तक अनुनय विनय करता रहा, किन्तु ब्राह्मणों ने एक भी न सुनी। अन्त में राजा ने एक दिन कह दिया—"कल सबेरे जिस आदमी को मैं पहले देखूँगा उसी का मज़हब स्वीकार करूँगा।" दूसरे दिन राजा के सम्मुख सबसे पहले जो आदमी गया वह बुल्बुलशाह था। रिन्चन् ने इस्लाम स्वीकार किया। बुल्बुल ने सिखलाया और ब्राह्मणों के बुरे बर्ताव का स्मरण हो आया। फिर क्या था रिंचनशाह ग़ाज़ी बन गया। उसने एक एक करके कश्मीर के सभी पुराने मन्दिरों को तोड़वाया। हिन्दुओं को ज़बर्दस्ती मुसलमान बनाना आरम्भ किया। यह बात उसकी सन्तान ने भी जारी रक्खी। इसका फल यह हुआ कि अधिकांश हिन्दू मुसलमान हो गये, उनकी सन्तानें आज भी पूछने पर अपने को वट (भट्ट), गूजर, जाठ, राजपूत कहती हैं।

१३३९ ई० में कश्मीर में इस्लाम-धर्म की दृढ़ पताका स्थापित हो गई। ब्राह्मणों में सिर्फ़ ग्यारह परिवार बाक़ी बच गये थे। उसके बाद सुल्तान जैनुल-आबेदीन (१४२०–७० ई०) के प्रशान्त शासन-काल में कुछ ब्राह्मण बाहर से भी आये, जिनमें कौल-वंश मिथिला (दरभंगा) से आया। इसके प्रमुख महेश्वरनाथ कौल थे। दरबार के प्रमुख गिरिजादत्त एलिचपुर (बरार) से आये। नवागतों का नाम बानमासी पड़ा, और पूर्वनिवासी मलमासी हुए। मलमासी

लोग चान्द्र मास के माननेवाले थे, और वानमासी सौर मास के। किन्तु दोनों प्रकार के परिवारों का आपस में खाना-पीना, शादी-विवाह होता रहा। इसी सुल्तान के समय ब्राह्मणों ने फ़ारसी पढ़ना शुरू किया और उन्हें राजपद भी मिलने लगे। कश्मीरी पंडितों (ब्राह्मणों) में १३३ गोत्र हैं। प्रथम सिर्फ़ ६ ही थे अर्थात् दत्तात्रेय, भारद्वाज, गौतम, मौद्गल्य, उपमन्यु और धौम्य। कुछ लोगों का कथन है कि कश्मीरी पंडित यवन (यूनानी) और पारसी हैं, और कश्मीर में आकर बस गये हैं।

मुसलमानी समय में बड़शाह नामक कश्मीर का एक बादशाह था। आरम्भ में उसने भी हिन्दुओं पर बड़ा अत्याचार किया, किन्तु पीछे उसके विचारों में भारी शान्ति आई। लोग कहते हैं कि शान्ति नहीं आई, बल्कि बड़शाह के मुर्दा शरीर में एक हिन्दू योगी प्रविष्ट हो गया। उस समय हिन्दुओं के साथ बहुत अच्छा बर्ताव होने लगा। उसी के समय शुभकार्य में ब्राह्मणों को मुसलमान का मुख देखने का नियम बना! अब कश्मीरी पंडित उसे अपने धर्म में गिनने लगे हैं। मुसलमान भी यज्ञ-यज्ञोपवीत सुनते ही ब्राह्मण के दरवाज़े पर पहुँच जाते हैं। मूर्तिरहित बड़शाह का मन्दिर आज श्रीनगर में मौजूद है।

(ग)

कश्मीर की राजधानी श्रीनगर है। इसकी जन-संख्या सवा लाख के क़रीब है। यह समुद्र-तल से पाँच हज़ार फ़ुट ऊपर है। गर्मी के दिनों में भी ऊँचाई के कारण यहाँ गर्मी नहीं मालूम होती। बल्कि वर्षा—जो कि यहाँ बराबर होती ही रहती है—के समय तो काफ़ी सर्दी पड़ने लगती है। जाड़े में छत, आँगन, सड़कें सभी पर बर्फ़ पड़ जाती है। चारों तरफ़ देशी चीनी के ढेर की तरह सफ़ेद ही सफ़ेद बर्फ़ दिखाई देती है। उस समय सर्दी बहुत बढ़ जाती है। उससे रक्षा पाने के लिए लोगों को अधिक गर्म कपड़ों की ज़रूरत पड़ती है। इसके लिए प्रत्येक कश्मीरी अँगीठी (काँगड़ी) अपने पास

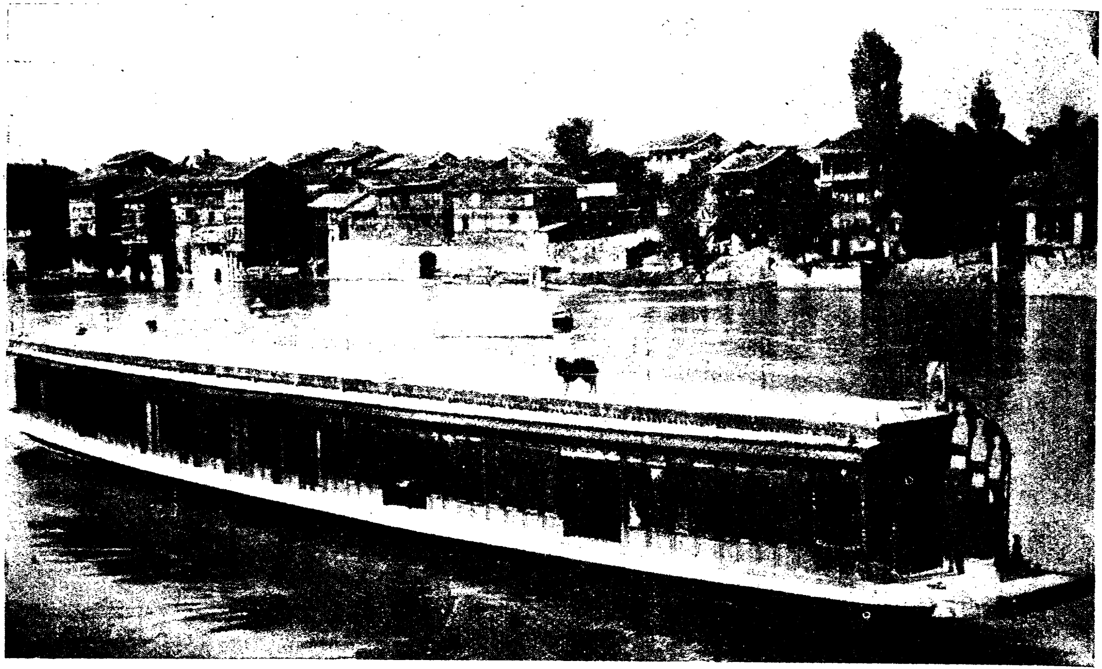
से पृथक् नहीं करता। दूकानदार अपनी दूकान में, नाविक अपनी नाव में, बाबू अपने आफ़िस में, अमीर अपने सोफ़े में, काँगड़ी लिये बैठे रहते हैं। यह काँगड़ी बड़ी हलकी और सुन्दर बनी रहती है। बीच में एक छोटा सा मिट्टी का बर्तन और उसके चारों तरफ़ ल्विङ्, वीरी, या तूत की पतली शाखाओं की बुनावट होती है, जिसमें हेंडिल भी लगा रहता है। कश्मीरी पुरुष और स्त्री, हिन्दू-मुसलमान सभी लम्बे चोग़े पहनते हैं। सर्दी के वक़्त आम रास्तों में स्त्री-पुरुषों को चोग़े के अन्दर काँगड़ी लिये हुए जाते देखेंगे। जाड़े के दिनों में डल (झील) के किनारे किनारे कुछ जल जम जाया करता है। कभी कभी झील पर बर्फ़ की मोटी तह जम जाती है, जिस पर शौक़ीन लोग स्केटिंग भी करते हैं। श्रीनगर में आगन्तुकों को कुछ विचित्र वृक्ष दिखाई देंगे। ये हैं सफ़ेदा, चिनार और वीरी। मीलों तक सड़क के किनारे लम्ब-लम्बे सफ़ेद छालवाले वृक्षों की पंक्ति दिखाई पड़ेगी। यही सफ़ेदे हैं। इनमें शाखायें मोटी-मोटी नहीं फूटतीं। जो फूटती भी हैं, वे तने के साथ बहुत छोटे-से कोण पर फूटती हैं, जिसकी वजह से जड़ ही में नहीं, ऊपर भी वृक्ष एक पंक्ति में दिखाई पड़ते हैं। इस वृक्ष में सिर्फ़ यही गुण नहीं है कि इससे सड़क की शोभा बढ़ जाती है, बल्कि यह लगता भी बड़ी आसानी से है। किसी भी छोटी-सी हरी शाख को गोली भूमि में लगा दीजिए लग जायगी। लकड़ी भी मैदानी कई वृक्षों से अच्छी होती है, यद्यपि वह दियार या देवदार का मुक़ाबिला नहीं कर सकती।

कश्मीर यदि भारतवर्ष का स्वर्ग है, तो चिनार यहाँ का कल्प-वृक्ष है। यदि कहीं इसमें फल लगता तो सोने में सुगन्धि हो जाती। यह वृक्ष सैकड़ों फ़ुट ऊँचा, और दूर तक अपनी शाखाओं को फैलाये बहुत ही सुन्दर मालूम होता है। इसके पत्ते और फूल दोनों ही रेंड़ से मिलते हैं। सरो की भाँति इसकी शाखायें नीचे से ऊपर की तरफ़ कम लम्बी हो जाती हैं। ऐसी सुन्दर छाया भारतवर्ष में और किसी

वृक्ष की नहीं होती। लकड़ी भी इसकी बहुत अच्छी होती है, किन्तु कश्मीर में यह राजवृक्ष है। कोई चिनार वृक्ष को काट नहीं सकता। सूख या टूटकर गिर जाने पर भी वह लकड़ी महाराज के लिए जाती है। चिनार का कोयला धधक जाने पर आग कई घंटों बनी रहती है। सर्वसाधारण के भाग्य में उसका कोयला कहाँ बदा है? जाड़े के पहले जब वृक्षों के पत्ते गिर जाते हैं तब लोग जाड़े के लिए पत्तों को इकट्ठा करके घरों में रख लेते हैं। कहते हैं, चिनार के पत्तों की आग भी देर तक ठहरती है। चिनार की भाँति ही तूत भी राजवृक्ष है। इसे रेशम के व्यवसाय के लिए सुरक्षित किया गया है। वीरी के वृक्ष कश्मीरियों के बड़े काम के हैं। कश्मीरी कहते सुने गये हैं कि यदि कोई आदमी इस वृक्ष के नीचे सोये तथा इसकी दातुन करे तो बीमारी उसके पास नहीं आ सकती। खैर, यह तो उसका रोचक माहात्म्य है, लेकिन इसमें शक नहीं कि यह बड़े काम का वृक्ष है। कश्मीरी उपत्यका में श्रीनगर के पास दूर तक पानी ही पानी दिखाई देता है, कश्मीरी लोग इस सबको डल कहते हैं। इस पानी का भी ये लोग कई तरह से उपयोग करते हैं। एक तरफ़ इसमें उगी हुई घासों के ऊपर सिवार डालकर पतले पतले खेत बनाते हैं, जिन पर मिट्टी डालकर तरह तरह की साग-सब्ज़ी बोते हैं। दूसरी तरफ़ डल से उन्हें हज़ारों मन सिंघाड़ा और कमल की जड़ें मिलती हैं। भसिंड या कमल की जड़ के कई तरह के साग बनाये जाते हैं। इनके साथ ही थोड़े थोड़े पानी में हज़ारों बीघे वीरी के वृक्ष लगे हुए हैं। सफ़ेदे की भाँति इसकी भी शाखायें आसानी से लग जाती हैं। इसकी नई निकली हुई पतली शाखायें प्रतिवर्ष काट ली जाती हैं, इससे तरह तरह के खूबसूरत कुर्सियाँ, मेज़, टोकरियाँ आदि बनाई जाती हैं। इसकी लकड़ी के क्रिकिट-बैट आदि भी बनते हैं।

बादशाही जमाने में यह सिर्फ़ शाही परिवार के ही भाग्य में था।

गर्मियों के दिन में कश्मीर की स्वर्गभूमि में उसके चश्मों, उसकी झीलों, उसके सेब, अंगूर खुबानी के बग़ीचों म वे स्वर्गीय आनन्द लूटते थे। किन्तु आज उस आनन्द को बहुत आदमी भोगने में समर्थ हुए हैं। जब से रावलपिंडी से श्रीनगर तक मोटर हो गई है तब से और आसानी हो गई है। प्रतिवर्ष हज़ारों आदमी गर्मियों में भारतवर्ष के ही भिन्न-भिन्न भागों से ही नहीं, बल्कि यूरोप अमेरिका से भी कश्मीर देखने के लिए आया करते हैं। पंजाब और दूसरे प्रान्तों के कितने ही धनी लोग श्रीनगर में अपने मकान और बग़ीचे भी रखते हैं। दूसरे लोग या तो किसी बँगले को—जिनकी संख्या हज़ारों है—किराया पर लेते हैं या उन नौकागृहों में से एक को किराया करते हैं जो हजारों की संख्या में श्रीनगर में पाई जाती हैं। इन नौकाओं को चलता फिरता घर समझना चाहिए। इनमें शयनगृह, स्नानगृह, बैठकखाना, पाठगृह आदि सबका प्रबन्ध रहता है। झेलम (वितस्ता) के किनारे किनारे बिजली के खम्भे चले गये हैं, जिनसे इन नावों में बिजली लगी रहती है। बिजली श्रीनगर में बड़ी सस्ती है। साधारण लट्टू के लिए प्रतिमास ९ आने देने पड़ते हैं। मीटर घर में नहीं लगा रहता, इसी से लोग दिन में भी बत्तियों को जलते ही छोड़ देते हैं। प्रत्येक नौकागृह के साथ एक छोटी नाव रसोईखाना और नौकरों के रहने का काम देती है। इसके अतिरिक्त किश्ती में एक या अधिक 'शिकारा' (छोटी डोंगियाँ) भी रहते हैं। दिन में लोग शिकारा पर सवार दूर-दूर तक, झेलम तथा उसकी नहरों या डल झील में सैर के लिए जाया करते हैं। कभी कभी वे सारे घर के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान चले जाया करते हैं। कितनी ही बार लोग शहर से दूर डल में—जहाँ पानी पर तैरते खेत हैं, जिनके लिए कश्मीर की खेतों की चोरी प्रसिद्ध है—भी लंगर डाले लोग दिखाई पड़ते हैं। आगन्तुकों में यूरोपियन स्त्री-पुरुषों की संख्या बहुत काफ़ी होती है। डल में एक-दो छोटे छोटे सुन्दर द्वीप हैं। कभी कभी उनमें से किसी पर आप



नौकागृह

गौरांग रमणियों को नृत्य करते, पिकनिक पार्टी का आनन्द लेते भी देखेंगे। फूल, फल, और जल इन तीन चीज़ों के लिए कश्मीर अद्वितीय है।

मैंने पहले लिखा है कि कश्मीरियों की-सी गन्दी जाति संसार में बहुत कम होगी। इनकी गलियाँ ही पायखाना का काम देती हैं। धूप के समय तो कुछ सहन भी हो जाय, किन्तु वर्षा में इन गलियों में जाना मानो संडास से होकर गुज़रना है। आश्चर्य तो यह है कि क्यों हैज़ा और प्लेग पैर तोड़ कर यहाँ नहीं बैठ जाते। डाक्टर नेव लिखते हैं—

'The wonder is, not that cholera came, but that it ever went away; not that it slew 10,000 (in 1888) victims, that so many escaped its ravages.' 'Enough that cholera came and will come again, aye, and again, as long as it is thus prepared for, and invited and feasted by, a city reared in filth, a people born in filth, living in filth and drinking filth.

१८८८ ई० के दो मास के हैज़ा के प्रकोप के बाद उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी गई थीं। इसके बाद कितनी बार हैज़ा ने फिर प्रहार किया, यह नीचे के कोष्ठक से ज्ञात होगा—

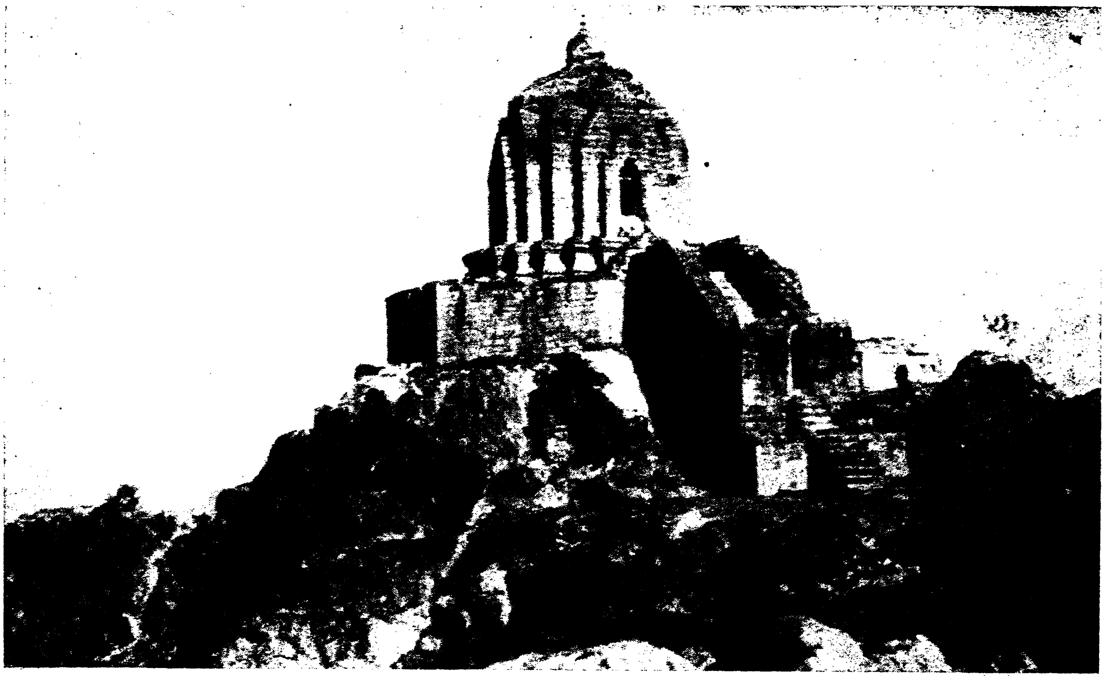
सन्	मृत्यु	विशेष
१८९२ ई०	११,७१२	इसमें ५,७८१ केवल श्रीनगर में। बीमारी मई से अगस्त तक रही।
१९००-०२	१०,८११	बीमारी अगस्त १९०० से जनवरी १९०२ तक, १८ महीने रही।
१९०६-०७	१,६२६	१३ नवम्बर से ३१ जनवरी तक।
१९१०	६,२११	४ जून से १८ नवम्बर तक।

इसके अतिरिक्त प्लेग ने भी १९०३-१९०४ में प्रहार किया था।

प्रसिद्ध स्थान

शंकराचार्य—श्रीनगर के पूर्वोत्तरी भाग में यह एक छोटा-सा पर्वत है, जिसके ऊपर एक शिव-मन्दिर है। मुसलमानी समय में अन्य मन्दिरों की भाँति इसकी भी दुर्गति हुई थी। मुसलमान लोग इसे तख्ते-सुलेमान कहते हैं। कहते हैं, कश्मीर के प्रसिद्ध मूर्तिखंडक बादशाह सिकन्दर ने इस मन्दिर को इसलिए नहीं तोड़ा, क्योंकि महमूद गज़नवी (९९७-१०३०) ने यहाँ नमाज़ पढ़ी थी। कश्मीर में हिन्दू-राज्य स्थापित होने पर इस मन्दिर में पूजा होनी शुरू हुई। यहाँ से सारी कश्मीर-उपत्यका दिखाई पड़ती है। चारों तरफ़ घेरे हुए पहाड़—जिनके पीछे की ओर हिमाच्छादित शिखरवाले पर्वत हैं—बीच में जगह जगह लम्बे लम्बे जलाशय, सर्प की भाँति कुटिल-गति की जेहलम, दूर तक सफ़ेदे की दोहरी पंक्तियों के बीच जाने-वाली सड़कें, मीलों तक, शहर से बाहर भी, सेब, बादाम आदि के बाग़ों में बने हुए छोटे छोटे सुन्दर बँगले, हरी घासों से ढँके लम्बे-लम्बे क्रीड़ाक्षेत्र, सुन्दर चिनार वृक्षों की मधुर शीतल छाया के अन्दर हरी घास के मखमली फ़र्शोंवाली सुभूमियाँ देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं।

श्रीनगर में स्कन्दभवन, त्रिभुवन स्वामी, क्षेम गौरीश्वर, दिद्दा माथा, विक्रमेश्वर आदि कितने ही प्राचीन मन्दिर थे, जो अब तोड़ कर मुसलमानी पीरों की जियारतों में परिणत हो गये हैं। श्रीनगर की जामा मस्जिद को सिकन्दर ने १४०४ में बनवाया। इसके बनाने के लिए उसने महाराज तारापीड (६९६-९७) के विशाल मन्दिर को तोड़कर उसके पत्थर को इस्तेमाल किया। इस मन्दिर के इर्द-गिर्द कितने ही पत्थर के मन्दिरों के ध्वंसावशेष दिखाई देते हैं। इसकी भूमि को बौद्ध लोग भी बहुत पवित्र मानते हैं। लद्दाख आदि से वे तीर्थ-यात्रा



तख़्त सुलेमान

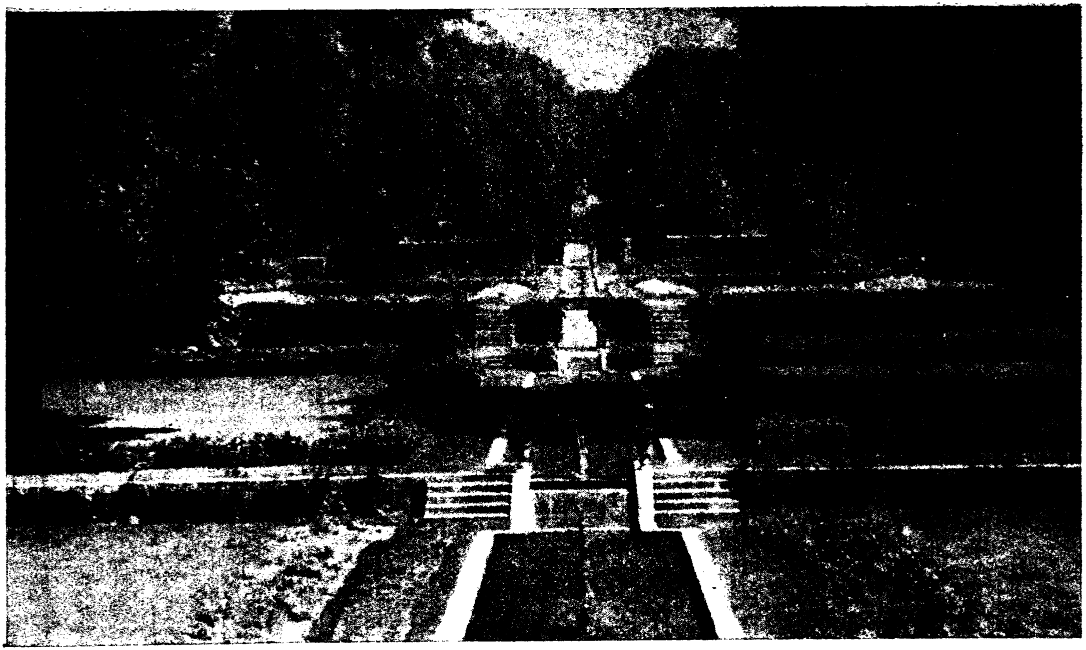
के लिए जब-तब आया भी करते हैं। उनकी भाषा में इसे चिचाङ्-चु-ब्लक-खङ् कहते हैं। स्वर्गीय महाराज प्रतापसिंह ने इसकी मरम्मत के लिए १८९३ और १९१२ में १२ हज़ार और ४० हज़ार रुपये दिये। महाराजा प्रवरसेन द्वितीय का बनवाया 'सद्भाव श्री' का मन्दिर आज पीर हाजी मुहम्मद की ज़ियारत के रूप में परिणत है। इन्हीं महाराज का दूसरा मन्दिर 'प्रवेरश' पीर बहाउद्दीन की ज़ियारत है।

नसीमबाग़—श्रीनगर से प्रायः चार मील पर डल के किनारे हजरत बल नामक एक गाँव है। सारे कश्मीर में मुसलमानों के लिए यह सबसे पवित्र जगह है। यहाँ एक बाल है, जो हजरत मुहम्मद साहब का कहा जाता है। इससे आधा मील आगे शाहजहाँ का बनवाया (१६३५ ई० में) 'नसीम बाग़' है। इसमें सैकड़ों (आरम्भ में १२०० थे) चिनार के बड़े बड़े वृक्ष हैं।

शालीमार बाग़—नसीमबाग़ से थोड़ी दूर पर डल के बीच में एक छोटा-सा द्वीप है, जिसे सुनालंक कहते हैं। जहाँगीर ने इस पर एक कुटी बनाई थी। अमीरख़ाँ जवाँशेर ने १७३७ में इसकी मरम्मत कराई थी। लेकिन अब उसका पता नहीं। इसके घासों की फ़र्श पर अकसर लोग पिकनिक पार्टी किया करते हैं। इसके थोड़ी दूर पर डल के पूर्वोत्तर के कोने पर प्रसिद्ध शालीमार बाग़ है। कहते हैं, प्रवरसेन द्वितीय ने इस जगह एक छोटा-सा महल बनवाया था। यह वही राजा है जिसने श्रीनगर को बसाया था। राजा हरवन में रहनेवाले तपस्वी सुकर्मस्वामी के दर्शनार्थ जाया करता था, इसी लिए उसने यह निवासस्थान बनवाया था। पीछे जब यह राजभवन नहीं रहा तब यहाँ एक गाँव बस गया, जिसका नाम भी शालीमार होगया। मुग़ल बादशाह जहाँगीर ने १६१९ में एक बाग़ बनवा कर नाम 'फ़रह-बख़्श' (आनन्दप्रद) रक्खा। शाहजहाँ की आज्ञा से सूबेदार जफ़रख़ाँ ने भी १६३० ई० में इसमें कुछ वृद्धि की। डल

से शालीमार तक नहर गई हुई है। शालीमार बाग़ की लम्बाई ५९० गज़ और नीचे की २०७ तथा ऊपर की चौड़ाई २६७ गज़ है। इसके चारों तरफ़ ईंट और पत्थर की दस फ़ुट ऊँची दीवार हैं। इसमें प्रायः एक समान चार तल हैं, जो सीढ़ियों की भाँति एक-दूसरे के ऊपर हैं। प्रत्येक तल में पाँती से एक एक कुंड हैं, जो ११ इंच गहरी ९ से १४ गज़ चौड़ी नहरों के द्वारा मिलाये गये हैं। बाग़ के पिछले भाग में हरवन की धार से पानी लाया गया है। यह पानी पहले ऊपरवाले तल पर पहुँचता है, वहाँ से काले संगमर्मर-सदृश पत्थर से बनी हुई नहरों में बड़ी सुन्दरता से बहता हुआ, तिर्छी शिलाओं पर मछलियों की तरह नाचता क्रमशः एक से दूसरे कुंड में गिरता, दर्जनों फ़व्वारों को छोड़ता बाग़ के बाहर-वाली नहर-द्वारा डल में चला जाता है। बाग़ का ऊपरी तल अन्तः-पुर की बेगमों के लिए था। बाग़ के बीचवाले कुंड के मध्य में एक चतुष्कोण सुन्दर मकान है, जिसकी छत सुन्दर कलायुक्त काले संगमर्मर के २० फ़ुट ऊँचे खम्भे पर स्थित है। इनकी संख्या प्रत्येक पंक्ति में छः है। इसके चारों तरफ़ का कुंड साढ़े तीन फ़ुट गहरा तथा ५२ वर्ग गज़ भूमि में है। रविवार के दिन—जिस दिन पानी नहर में छोड़ा जाया करता है—सैकड़ों दर्शक इस छत के नीचे बैठे फ़व्वारों की शोभा, जल के प्रपात, हरी घासों के मखमली फ़र्श, चिनार की मनोहारिणी छाया, रंग-बिरंगे फूलों की शोभा और सुगन्धि का आनन्द लूटते हैं।

निशात बाग़—शालीमार से दो मील दक्षिण प्रसिद्ध निशात बाग़ है। नूरजहाँ के भाई आसफ़जाह ने १०४४ हिजरी में इसकी नींव रक्खी। यहाँ भी शालीमार की भाँति नीचे ऊपर तल, मखमली हरा फ़र्श, फ़व्वारों की पंक्तियाँ, पुरातन चिनारों की छाया पाई जाती है। किन्तु यहाँ सभी वस्तुएँ विशेषकर नहरों और फ़व्वारों के ढंग में कुछ थोड़ी-सी नवीनता भी है। निशात बाग़ ५९५ गज़ लम्बा,



निशात बाग़

३६० गज चौड़ा है। इसके भी चारों तरफ़ ईंट-पत्थर की दीवार है। ख़ासकर रविवार के दिन दर्शकों की संख्या अधिक होती है। लोग नावों, मोटरों, ताँगों से पहुँचते हैं। धनिकश्रेणी से लेकर साधारणश्रेणी तक के स्त्री-पुरुष भी अपने अपने समावर (चाय बनाने का चूल्हासंयुक्त बर्तन) से चाय पीते, ताश खेलते पाये जाते हैं।

चश्माशाही—निशात से ढाई मील दक्षिण चश्माशाही है। इसके जल की शुद्धता बड़ी ही प्रसिद्ध है। इसके आसपास भी शाहजहाँ का बनवाया एक छोटा बाग़ है।

पामपुर—श्रीनगर से नौ मील पूर्व-दक्षिण यह ग्राम है। इसके आसपास दूर तक केसर के खेत हैं। केसर की क्यारियाँ बहुत छोटी-छोटी (१½ गज + १ गज) होती हैं, जिनके किनारों पर प्रायः एक फ़ुट गहरी नालियाँ होती हैं। जून में केसर बोई जाती है और अक्तूबर के अन्त में फ़सल तैयार होती है। पौधा गेहूँ-सा होता है। इसके फूल की बीचवाली पँखड़ियाँ ही असली केसर है। ये खेत मीलों तक हैं। केसर केवल यहीं होती है। कश्मीर के और भागों में प्रयत्न करने पर भी लोग केसर पैदा करने में सफल नहीं हो सके। इसका प्राचीन नाम पद्मपुर है। विष्णुपद्म स्वामी के मन्दिर का ध्वंसावशेष यहीं पर है। इसके कुछ सुन्दर खम्भे यहाँ के मीर मुहम्मद रम्दानी की ज़ियारत में लगे हुए हैं।

अवन्तीपुर—इसे वन्तीपुर भी कहते हैं। गाँव के पास में अवन्तिवर्मा के भव्य मन्दिर का ध्वंसावशेष खोद कर निकाला गया है। जेहलम के तट पर यह मन्दिर किसी समय बड़ा ही भव्य मालूम होता होगा। अब भी बड़े-बड़े पत्थरों के बने द्वार और दीवारें अर्ध-भ्रष्ट मूर्तियों तथा बेल-बूटों से अलंकृत दिखाई पड़ती हैं। मन्दिर के चारों तरफ़ पत्थर की दीवार है। इसके भीतरी ओर सुन्दर खम्भों की पंक्तियाँ तथा छोटी छोटी कोठरियाँ बनी थीं। बीच में सुन्दर मन्दिर था।

८—ज़ोजीला पार

श्रीनगर से लद्दाख जाने के दो रास्ते हैं, जिनमें सबसे अधिक चालू वह है, जो ज़ोजीला पार करके जाता है और जिससे कुल दूरी २४० मील है। यों तो मैदानी आदमियों के लिए श्रीनगर (५२१४ फ़ुट) भी काफ़ी सर्द है; किन्तु ज़ोजीला के पार का मुल्क कुछ दूसरे ही प्रकार का है। इसके लिए यात्री को कपड़े आदि की विशेष तैयारी करनी पड़नी है। श्रीनगर ही से उसे गर्म कोट, पायजामा, मोज़े, पट्टी, कनटोप, दस्ताने, लोइयाँ, बिस्तरे आदि का प्रबन्ध कर लेना पड़ता है। श्रीनगर से नाव या ताँगे पर गांदर्बल (५२२० फ़ुट) ९½ मील जाया जा सकता है। गिल्गित जानेवाले को भी यहाँ तक सम्मिलित सफ़र करना पड़ता है। गांदर्बल से कांगन (१०½ मील) पहला पड़ाव है। लद्दाख चूँकि सीमान्त-ज़िला है, और उसकी सीमा पूर्व की तरफ़ तिब्बत से और उत्तर की तरफ़ चीनी तुर्किस्तान से मिली हुई है, इसी लिए श्रीनगर में ब्रिटिश ज्वाइंट कमिश्नर से पास लेना पड़ता है। कांगन में पास देखकर आगे जाने की इजाज़त होती है। गांदर्बल ही से यद्यपि पहाड़ के साथ साथ रास्ता आरम्भ होता है; किन्तु गांदर्बल तक चढ़ाई-उतराई नाम-मात्र ही है। जगह-जगह रास्ते में छोटे-छोटे गाँव मिलते हैं, जिनके आस-पास अखरोट, बादाम, तूत आदि के बहुत-से वृक्ष हैं। कश्मीर के लोगों का मुख्य भोजन चावल है। मई के अन्तिम सप्ताह ही में किसान अपने अपने खेतों को ठीक कर लेते हैं। जगह-जगह धान के पौधे रोपने के लिए भी तैयार-से मालूम पड़ते हैं।

गांदर्बल से लद्दाख का रास्ता सिन्धु नदी के किनारे-किनारे चलता है। सिन्धु के बायेंवाली पहाड़ियाँ गांदर्बल से बालतल तक चीड़ (कारू) कचलू आदि के सुन्दर वृक्षों से आच्छादित है; किन्तु दाहने किनारेवाली पहाड़ियों में जंगल नहीं है। इसमें जगह-जगह

गाँव तथा धान के खेत, अखरोट, बादाम, खूबानी आदि के वृक्ष ह। पानी सभी जगह अधिकता से मिलता है। मई के अन्तिम सप्ताह में लोग खेतों को जोतकर, ढेले फोड़कर, धान रोपने के योग्य बना लेते हैं। इन कामों में पुरुषों से अधिक स्त्रियाँ ही देखने में आती हैं। आबादी सभी काश्मीरी मुसलमानों की है। सिर्फ़ कांगन, हरिगंजबन, गुंड, कुलन, सोनमर्ग में दो-एक हिन्दू दूकानदार हैं, जो काश्मीरी पंडित या पंजाबी हैं। कांगन से आगे धीरे-धीरे उँचाई बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि वहाँ से १३ मील पर गुंड में वह ६८२० फ़ुट तथा वहाँ से १५ मील सोनमर्ग में ८७५० फ़ुट और ८½ मील तथा बालतल में ६४५० फ़ुट हो जाती है; किन्तु यह उँचाई इतने धीरे-धीरे बढ़ी है कि यात्री को इसमें कोई कष्ट नहीं मालूम होता। सड़क भी बहुत अच्छी है, जगह-जगह पुल हैं।

हिमालय के काश्मीर विभाग में भिन्न-भिन्न वृक्षों की स्थिति-मर्यादा निम्न प्रकार है—

कारू (चीड़-Pine)	२०००-७००० फ़ु०
देवदार	५०००-८००० ,,
कचलू (Sprus) बदलू (Silver Fur)	७०००-१०००० ,,
भोजपत्र	८०००-११५०० ,,

धान, गुंड से नीचे-नीचे होता है। आगे मक्का, गेहूँ, त्रुम्ब आदि की खेती होती है। आगे भूमि भी कई मास तक बर्फ़ से ढँकी रहती है। गर्मियों में यहाँ वर्षा भी प्रायः बराबर हुआ करती है। सोनमर्ग में तो हमारे पहुँचने के साथ बर्फ़ पड़नी शुरू हो गई और घंटे भर में जगह-जगह इंचों बर्फ़ गिर गई। गिरती हुई बर्फ़ का देखना भी एक सुन्दर दृश्य है। ज्ञात होता है, बड़ी बड़ी बूँदें गिर रही हैं, ग़ौर से देखने पर अंगुल-अंगुल चौड़े धुनी रुई के फाहे से गिरते मालूम होते हैं। आदमियों ने कहा—यह गर्मी का मौसिम है, इसी लिए पहले झोंक



सोनमर्ग के समीप का एक पहाड़ी दृश्य

से गिरनेवाली बर्फ़ ज़मीन पर पड़ते ही विलीन हो गई, नहीं तो आप अच्छी खासी रुई के पहल भूमि पर जमे हुए पाते।

बालतल में डाक-बँगला और सराय है। सोनमर्ग से बालतल जाने में अब भी कहीं-कहीं बर्फ़ पर से चलना पड़ा। कहीं-कहीं सिन्धु नदी पर बर्फ़ का पुल भी बँधा दिखाई पड़ा। बालतल में तो दूकान और बस्ती नहीं है, किन्तु उससे नीचे एक गाँव है। यह गाँव बाल्तियों (भेरहों) का है। काश्मीरियों को इतनी सर्दी में खेती-बारी करना बहुत कठिन है।

वर्षा होते समय लोग सोनमर्ग से बालतल को जाना पसन्द नहीं करते; क्योंकि पास की पहाड़ियों पर अनेक छोटे-बड़े पत्थर इस तरह बिखरे हुए हैं कि वर्षा से उनके नीचे की भुर्भुरी मिट्टी गल जाती है, और मालूम होता है, क्रोधित दानव-सेना उधर से गुजरने-वाले यात्रियों पर पत्थरों का प्रहार कर रही है। बालतल के क़रीब एक काश्मीरी घोड़ा लेकर लौटता हुआ मिला। घोड़े की एक टाँग के सुम से ऊपर ऐसा जबरदस्त पत्थर लगा था कि उसकी हड्डी टूट गई थी बेचारा घोड़ा तो दुखी था ही, किन्तु आदमी के चेहरे से ज्ञात होता था कि उस पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा है। उसके जीवन से बढ़कर जीविका का सहारा टूट गया था !

बालतल से ज़ोजीला पार करने के दो रास्ते हैं; एक जाड़े का, दूसरा गर्मी का। गर्मीवाला रास्ता अभी-अभी खुला है। अब भी सड़क मील-डेढ़-मील ही तक हिम-रहित है। आगे बर्फ ही पर चलना पड़ता है। बालतल से नीचे ही चीड़जातीय वृक्षों का जंगल छूट जाता है। और जंगली सफ़ेदा और वीरी के साथ-साथ भोजपत्र आरम्भ हो जाता है। आगे फिर सिर्फ़ हिमगौर चर्मवाले भोजपत्र देखे जाते हैं। ११ हज़ार फ़ुट से ऊपर के स्थानों पर भी, जहाँ से बर्फ़ अभी महीनों नहीं गलेगी, ये पत्र-रहित वृक्ष बड़े सन्तुष्ट-से दिखाई पड़ते हैं। जहाँ बर्फ़ नहीं है, वहाँ इनमें छोटे-छोटे-से जामुन के-से पत्ते निकल

आये हैं। चार मील की चढ़ाई के बाद पहाड़ की ऊपरी अँगनाई पर पहुँचते हैं। यहाँ आस-पास सफ़ेद संगमर्मर की दीवार के घिरावे में मीलों तक चली गई चाँदी के फ़र्शवाली यह अधित्यका ह। बीच से चलनेवाले आदमियों और घोड़ों के पैरों ने रास्ते का चिह्न बनाया है। धूप में इस बर्फ़ की ओर नज़र डालने में आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। सभी लोग यहाँ हरे चश्मे लगाते हैं। जिनके पास चश्मा नहीं होता, उन्हें घंटे-आधे-घंटे के सफ़र के बाद आँखों में पीड़ा आरम्भ होती है, आँखें सूज आती हैं। मीलों आगे बढ़ने पर ज़ोजीला का वह जल-विभाजक आता है, जिसके एक ओर का पानी काश्मीरी सिन्धु और दूसरी ओर का गुम्बेर में जाता है। घंटों के बर्फ़ के सफ़र के बाद आदमी मिचोई पहुँचता है।

मिचोई के आसपास भी बर्फ़ उसी प्रकार है, जिस प्रकार ज़ोजीला पर। यह भी समुद्रतल से ग्यारह हज़ार फ़ुट से कम ऊँचा न होगा। मिचोई कोई गाँव नहीं है। इस जगह एक छोटा-सा डाक-बँगला और सराय (धर्मशाला) है जो पुराने तारघर के मकान में है। इनके अतिरिक्त एक और मकान है, जो जाड़ों में तारघर के तौर पर इस्तेमाल होता है। इस तारघर का कोई और तो काम नहीं मालूम होता, सिवाय इसके कि जाड़े की डाक के ज़ोजीला पर होने की सूचना मिलती रहे। श्रीनगर से लद्दाख तक थोड़ी-थोड़ी दूर पर डाक-बँगले हैं, जिनमें ठहरनेवाले को बालतल तक का आठ आना और आगे एक रुपया रोज़ देना पड़ता है; लेकिन सराय (यह भी अच्छी है) में ठहरनेवाले को कुछ नहीं देना पड़ता। पड़ाववाली जगहों पर ठीकेदार के ज़िम्मे लकड़ी और चारे का प्रबन्ध किया गया है। पड़ाव से थोड़ा हटकर नीचे से गुम्बेर नदी जाती है। ज़ोजीला के जल से एक तरफ़ जहाँ गांदर्बलवाली सिन्धु निकलती है, वहाँ दूसरी तरफ़ यह गुम्बेर निकली है। भाषा और भौगोलिक दृष्टि से कश्मीर ज़ोजीला पर ही ख़तम होता है। उसकी दूसरी तरफ़ बालतिस्तान का प्रदेश आरम्भ होता है।

मिचोई से आगे मटायन में (११००० फ़ुट) ६ मील तक मई के समाप्त होने पर भी बर्फ़ पड़ी रहती है। सर्दी बहुत अधिक है। दिन में चलनेवाली जल-प्रणालियाँ सबेरे बर्फ़ हो जाती हैं। छोटे-छोटे गड्ढों में जमी हुई बर्फ़ की चादरें ज़रा-सी ठोकर से कच्चे काँच की तरह टूट जाती हैं। इनके छोटे-छोटे टुकड़ों को खिड़कियों में जड़ने को तबीअत करती है; किंतु ज़रूरत इतनी ही है कि ये गर्मी में भी ऐसी ही बनी रहें।

छोटी धारों के साथ कल दिन में वहाँ बालू थी। इस समय वह बालू भी ऐसी पक्की सीमेंट बनी है कि उस पर बर्छी भी मुश्किल से असर कर सकती है। जगह-जगह पर्वत-शिखर से गिरी हुई 'माणियाँ' देखने में आती हैं। 'माणी' ज्ञात होता है, संस्कृत हिमानी से बिगड़ कर काश्मीरी में बना है। ज़ोजीला पर, मिचोई से थोड़ा ही ऊपर, अभी सात दिन भी नहीं हुए, इसी तरह की एक माणी ने तीन आदमियों और तीन घोड़ों की बलि ली थी। इनमें एक घोड़ा लँगड़ा होकर बच गया। अस्तु, ये माणियाँ बड़ी बला हैं। न जाने कब लाखों मन बर्फ़ पास के पर्वत-शिखर से नीच आकर यात्री को अपने नीचे दबा ले। इसके बचाव का बीमा सिर्फ़ प्रातः-काल ९-१० बजे तक का समय है। उस वक़्त बर्फ़ भी कड़ा रहता है, लेकिन स्वार्थी मनुष्य जल्दी के मारे कभी उसके बाद भी चल पड़ता है, जिसके लिए कभी-कभी किसी को बलि चढ़ानी पड़ती है। यद्यपि यह बात हज़ारों में एक के लिए होती है।

मटायन एक छोटा-सा गाँव है। ज़ोजीला के उस तरफ़ जिस तरह कारू, बदलू, कचलू आदि के सुन्दर वृक्षों की अधिकता पाई जाती है, उसी तरह इस पार वृक्षों का बिलकुल अभाव है। वनस्पति के नाम पर सिर्फ़ घास होती है।

अभी-अभी जिन जगहों से बर्फ़ पिघल गई है, धारा ने भीतर से हरियाली फेंकना शुरू कर दिया है। अभी कुछ दिनों तक पशुओं और

मनुष्यों को और कष्ट है। गाँवों में, जहाँ लकड़ी का कष्ट है, वहाँ जलाने के लिए गायों आदि का गोबर, लीद, लेंड़ी के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। स्त्री-पुरुष न नहाने की मानो क़सम खाये हुए हैं। क्या करें? सर्दी ही ऐसी है। कपड़े सभी ऊन के हैं। किसी-किसी के पास भेड़ या बकरी की खाल भी है। स्त्रियों की पोशाक लम्बा ऊनी चोग़ा, पैर में लम्बा ऊनी जूता (पप्पू) जिसके ऊपर पट्टी की तरह लिपटी कोई चीज़, सिर पर ऊनी थैले की तरह का ऊनी कन्टोप, कमर में कमरबन्द। मकान में पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों के ढेर-सी दीवारें चुनी हैं। दूर से पत्थरों के ढेर और मकान में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। इन पत्थरों और हिमों के बीच में प्रकृति ने इनके लिए क्या रख छोड़ा है, जिसकी प्रतीक्षा में ये लोग धूनी रमाये बैठे हैं? उपज में एक तरह बर्फ़ पिघलने पर ५-६ महीने बकरी-भेड़ों की चरागाह से दूध, मांस, चमड़ा है, दूसरी तरफ़ छोटे-छोटे खेतों में यदि निकृष्ट अन्न, त्रुम्ब, या ग्रिम कुछ थोड़ा हो गया, तो सत्तू का काम चल गया। सत्तू और चाय, यही यहाँ के लोगों का प्रधान खाद्य है।

मटायन के बाद नीचे-ऊपर होते हुए गुम्बेर के तट से द्रास को जाना होता है। पहाड़ियाँ पथरीली, वनस्पति से नितान्त शून्य हैं। इन पर जो छोटे-बड़े असंख्य पत्थर पड़े हुए हैं, ज़रा-सी ही वृष्टि या हवा के लगने से नीचे लुढ़कने लगते हैं। और कभी-कभी किसी यात्री या घोड़े की सिर्फ़ हड्डी तोड़ कर छोड़ देते हैं, अथवा प्राण भी ले लेते हैं।

द्रास (१०१४४ फ़ुट—१२½ मील) गुम्बेर और द्रास नामक दो नदियों के संगम से थोड़ा हटकर ऊपर है। पहाड़ियाँ यहाँ भी बिलकुल नंगी हैं, जिनमें से कुछ के ऊपरी भाग पर अब भी हिम है। गेहूँ के खेत अभी-अभी बोने शुरू हुए हैं। खेती के काम में अधिक भाग यहाँ स्त्रियों ही का होता है। बैलों की जगह आमतौर पर यहाँ चोमो से काम लेते हैं। यह नर याक् (चंवरी) और गाय के

संयोग से पैदा होता है। खच्चर से विरुद्ध इसकी सन्तान आगे को चलती है। लेकिन बैल से यह अधिक मज़बूत तथा शीत सहन करने-वाला होता है। इसका रंग अधिकतर काला होता है। पीठ पर डील नहीं होता। पूँछों तथा पट्ठों के बाल याक् की भाँति अधिक लम्बे होते हैं। गेहूँ के अतिरिक्त त्रुम्ब भी यहाँ पैदा होता है, जो सत्तू के काम में आता है। कश्मीर और लद्दाख दोनों एक-दूसरे से बिलकुल उलटे हैं। यदि एक को बाग़ और वनस्पति का स्वर्ग कहें तो दूसरे को वनस्पतिशून्य नंगे पर्वतों का ठंडा नरक कहा जा सकता है। आश्चर्य यह है कि यहाँ के लोग कैसे अपना गुज़र करते हैं। ये लोग घोड़ों के ज़रिये व्यापारियों के माल को श्रीनगर, लद्दाख आदि पहुँचाते हैं। खाने के लिए मक्की कश्मीर से लाते हैं। यद्यपि प्रकृति का बर्ताव इस प्रदेश से निष्ठुर है, तो भी यदि यहाँ के लोग कुछ बुद्धि से काम लेते तो वह बहुत कुछ नर्म किया जा सकता था। उदाहरणार्थ—यहाँ पर सफ़ेदा वीरी के वृक्ष लगाये जा सकते हैं। राज्य की तरफ़ से जहाँ-तहाँ कुछ वृक्षों को लगाकर दिखाया भी गया है। इससे एक तो लोगों को मकानों के लिए लकड़ियों का कष्ट न रहता, दूसरे खाना बनाने तथा जाड़े में आग तापने के लिए कष्ट न उठाना पड़ता।

द्रास से एक रास्ता जाँस्कार को जाता है और दूसरा लद्दाख को। व्यापारियों के माल के रखने और भेजने को यहाँ मालगोदाम हैं। राज्य की तरफ़ से कुली का आधा आना मील और घोड़े का एक आना मील किराया निश्चित है। इस अभागी उपत्यका के निवासियों के लिए यह लदाई का काम अहोभाग्य समझिए। द्रास में डाकघर, तारघर, प्राइमरी उर्दू-स्कूल और एक डाक-बँगला है। यहाँ नदी के ऊपर कच्ची ईंटों का एक क़िला भी है, जिसकी कुछ दीवार अब भी खड़ी है। क़िले के चारों ओर खाई है, जिसमें कभी पानी भरा रहता होगा। द्रास-उपत्यका में यद्यपि आज एक भी हिन्दू नहीं

है; किन्तु यह हिन्दू-संस्कृति के प्राचीन चिह्नों से सर्वथा वंचित नहीं है। द्रास से एक मील लद्दाखवाली सड़क की उँचाई पर कुछ चौरस-सी भूमि मिलती है। चलते-चलते एक बड़े पत्थर को अन्य पत्थरों की भाँति एक खेत की मेड़ बने देखा। उस पर के बने हुए सुन्दर चक्र को देखकर एक बार मैं विचार में पड़ गया—यह तो किसी मन्दिर का स्तम्भ ज्ञात होता है; किन्तु मुझे बहुत देर तक विचार में लीन न रहना पड़ा कि सड़क के दूसरी ओर की मेंड़ पर दो बड़े-बड़े पत्थर खड़े दिखाई पड़े। ये वस्तुतः किसी हिन्दू-मन्दिर के द्वार के स्तम्भ थे। अब भी पौरुष-परिमाण द्वारपाल की मूर्ति इनमें बनी है। इस अभागे मन्दिर के भाग्य में क्रूर हाथों-द्वारा क्या लिखा था, इसका मानो ये परिचय दे रहे हैं।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा, ज़ोजीला के इस तरफ़ का प्रदेश बालतिस्तान है। यहाँ के रहनेवाले बाल्ती और उनकी भाषा भी बाल्ती कहलाती है। इनकी आकृति और भाषा, दोनों ही तिब्बत से मिलती हैं। बाल्तियों के अतिरिक्त द्रास के आसपास के गाँवों में दर्द लोगों का निवास है। दर्द लोगों का असली देश गिल्गित, चिला आदि है, जिसे दर्दस्थान भी कहते हैं; किन्तु न जाने कब से ये लोग यहाँ आकर बस गये हैं। इनके चेहरों पर मंगोलियन रक्त की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है, तो भी भाषा इनकी आर्य है। यहाँ उनके कुछ शब्द देता हूँ—

संस्कृत	दर्द	संस्कृत	दर्द
अश्व	अश्प	अजा	अयि
गौ	गाव	श्वन्	शुङ्
गोधूम	गुम्	कर्ण	कन्
अक्षि	अशि	हस्त	हथ
पाद	पा	मनुष्य	मनुरु
बालक	बाल	स्वसा	शस
अष्टौ	अष्ट		

यहाँ के तथा दर्दस्तान के भी सभी दर्द सुन्नी मुसलमान हैं।

द्रास से शिम्साखर्बू २१ मील है। रास्ता कठिन तो नहीं है; किन्तु ऊबड़-खाबड़ है। इधर की पहाड़ियों पर गिरनेवाले पत्थर अधिक है; लेकिन यात्री के सौभाग्य से ज़ोजीला के उस पार की तरह वर्षा नहीं होती। पन्द्रह मील की यात्रा समाप्त करने पर ठसगाम आता है। बस्ती दर्द (ब्रोक्पा) लोगों की है। हर-एक स्त्री-पुरुष की पीठ पर गर्म कपड़ों के अतिरिक्त बकरी का एक छाला भी दिखाई पड़ता है। इधर गेहूँ और जौ की खेती अच्छी होती है। यद्यपि खेत बहुत कम हैं, जिनको आबाद करने के लिए यहाँ के निवासी दूर-दूर से छोटी नहरें राज्य की सहायता के बिना लाते हैं। ठसगाम के मीलों आगे-पीछे लोहे के पत्थरों की अपार राशि है। मैंने सड़क के पास से एक लाल पत्थर उठाया, जो पीछे ज्ञात हुआ कि ताँबे का पत्थर है। प्रकृति देवी ने जहाँ इस प्रदेश को वनस्पति से वंचित किया है, वहाँ दूसरी तरफ़ इन खनिज पदार्थों को कूट-कूट कर भर दिया है। मालूम हुआ, यहाँ लोहा, ताँबा, सोना आदि कितनी ही धातुएँ हैं; लेकिन उनके निकालने का प्रयत्न नहीं हुआ है। लोग खेती और माल-लदाई ही से अपना निर्वाह करते हैं। ट्रीटी रोड मचोई से पामीर (चीनी तुर्किस्तान की सीमा) तक चला गया है। यद्यपि इसकी मरम्मत आदि का सारा ख़र्च राज्य को देना पड़ता है; किन्तु इस पर अधिकार ब्रिटिश ज्वाइन्ट कमिश्नर का है। इसके किनारे के बँगलों पर भी अधिकार उसी का है। शिम्साखर्बू में एक अच्छा डाक-बँगला तथा सराय है। गाँव बँगले से कुछ ऊपर है। दूर तक हरे-भरे गेहूँ और जौ के खेत दिखाई पड़ते हैं। खूबानी, सेब आदि के वृक्ष भी जगह-जगह लोगों ने लगा रक्खे हैं। आबादी दर्द लोगों की है। कुल बस्ती २५ घरों की होगी, जिनमें दो घर सुन्नी और शेष नूरबख़्शी शिया हैं।

९—लद्दाख

कर्गिल से सिन्धु-तट—कर्गिल से सिन्धु-तट पर जाने का एक सीधा रास्ता लालुङ्-ला का है। 'ला' लद्दाखी भाषा में दर्रा या गली के लिए

आता है। जैसे—ज़ोजीला, फोतला इत्यादि। लालुङ्ला कर्गिल से ११ मील पर है। रास्ता चढ़ाई का है। जहाँ कर्गिल समुद्र-तल से ८॥ हज़ार फ़ुट के क़रीब है, वहाँ लालुङ्ला १३ हज़ार चार सौ फ़ुट है। ज़ोजीला पर गली ऊपर तक हिमरहित है। सिर्फ़ पास के नाले में दो-चार जगह हिम-शिलायें पड़ी हुई हैं। ला के पास भी ऊँची चोटियों पर अब भी बर्फ़ है। इन चोटियों के आस-पास चकोर बहुत हैं—विशेषकर राम चकोर। दूर से इनकी आवाज़ जाड़े में ताल की चिड़ियों की-सी सुनाई देती है। मामूली चकोर से ये राम चकोर चौगुने बड़े होते हैं; लेकिन कोई दूसरी जगह इन्हें पालने के लिए नहीं ले जा सकते। ८ हज़ार फ़ुट तक नीचे जाते जाते ही गर्मी के मारे मर जाते हैं। जब कर्गिल में बूँदाबूँदी वर्षा नहीं होती है (क्योंकि इस सारे इलाके में बर्फ़ लेकर ६ इंच से ज़्यादा पानी नहीं बरसता) तब यहाँ बर्फ़ गिरती है। हमारे भी पार करते समय छोटी मटर के बराबर सूखी बर्फ़ पड़ने लगी थी। लालुङ्ला के दोनों तरफ़ १२ हज़ार मील तक गाँव आबाद हैं। जौ, ग्रिम और सरसों की खेती है। वृक्षों में सफेदा और वीरी हैं। भेड़-बकरियाँ भी बहुत देखने में आती हैं। इनकी खाल, ऊन, दूध, और मांस ही यहाँ के लोगों की जान हैं।

दर्रे से एक मील नीचे लालुङ् गाँव १२३०० फ़ुट पर है। गाँव ४० घर का एक अच्छा खासा बड़ा गाँव है। दो मस्जिदें और ज़ियारत भी हैं। निवासी कट्टर शिया हैं। सर्दी ज़्यादा होने से फ़सल पीछे बोई गई है। गाँव के नीचे नाले में एक हिमशिला अभी तक है। इसी नाले में लालुङ् से ३ मील नीचे सल्मो गाँव है। यहाँ पर भी शिया मुसलमानों की आबादी है। यहाँ के लोग गन्दगी में शायद पृथ्वीतल पर अद्वितीय होंगे। समुद्रतल से यह भी १०॥ हज़ार फ़ुट ऊपर है। लेकिन लोलुङ् में कोई वृक्ष नहीं दिखलाई पड़ता, किन्तु यहाँ ख़ूबानी, सफेदा और वीरी बड़े हरे-भरे हैं।

'सनूचे' प्रथम बौद्ध गाँव—सल्मो से चार मील की कठिन चढ़ाई के बाद प्रथम बौद्ध गाँव मिलता है। बहुत दिन नहीं हुए, यह सारा प्रदेश बौद्ध था; किन्तु आज वह बहुत जगहों से लुप्त हो चुका है। जो बचा है उसके लक्षण अच्छे नहीं दिखाई देते। यह गाँव गर्कुन इलाक़े में है। इधर पाँच-सात गाँवों में एक विशेष जाति निवास करती है। इन्हें लद्दाखी-भाषा में ब्रोक्पा (दर्द) कहते हैं। मुसलमान ब्रोक्पा वे हैं जिनके बारे में मैं दर्द के नाम से लिख चुका हूँ। लेकिन जहाँ मुसलमान ब्रोक्पा अपनी भाषा को जीवित रक्खे हैं, वहाँ ये लोग उसे भुलाकर लद्दाखी भोटिया-भाषा बोलते हैं। लेकिन एक विशेषता है—इनका मुख मंगोलियन टाइप का न होकर प्रायः शुद्ध आर्य-टाइप का है। ये लोग गौ को बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते हैं। यह भाव इतनी अतिमात्रा को पहुँच गया है कि ये उसका दूध-मक्खन कुछ नहीं खाते और इसी लिए पालते भी नहीं। इनके गाँव में गाय और कुत्ता दो जन्तु बिलकुल नहीं दिखाई पड़ते। ये कहते हैं, गाय का दूध और मक्खन खाने से देवता रुष्ट हो जाते हैं। एक ने तो कहा—खाते ही आदमी बीमार हो जायगा।

दर्चिक्स ८५०० फ़ुट ऊँचे सिन्धु तट पर बसा है। ४० घर की बौद्ध बस्ती में कुछ मुसलमान घर भी हैं। यहाँ की बौद्ध स्त्रियाँ ख़ास पोशाक रखती हैं, जो सारे गर्कुन इलाक़े की एक-सी है। सिर पर सैकड़ों सुइयों की पाँती, कच्चे मूँगे, लाल सफ़ेद मणिकाओं की लड़ियों से सँवारी टोपी, जिस पर दोहरी लाल किनारीवाला मुँह आगे की तरफ़, पीछे की तरफ़ मकोय की तरह के अत्यन्त लाल रंगवाले फलों का गुच्छा अथवा जंगली गुलाब। गले में कितनी ही मूँगा आदि की मालायें, कान में चाँदी की छोटी-छोटी मनियों की माला। अनेक छोटी-छोटी चोटियों के पृष्ठ-देश पर के संगम में लगा हुआ ख़ूब बड़ा-सा बहुरंग फूलना, जिसमें पीतली मनिकों, कौड़ियों बटनों से सँवारा चक्र तथा दो शंख या बड़ी सीप के टुकड़े लगे होते

हैं। शरीर में आधी बाँहवाला घुटने तक का अति मलिन ऊनी कुर्ता, पैर में चिपका हुआ ऊनी पायजामा—जिसमें पिण्ड के पिछले भाग में एक-एक लाल चक्र बना हुआ होता है।

जता ऊनी पप्पू, हाथों में दो-दो पीतल की चूड़ियाँ, कंधों पर पीतल के दो चक्र, चकमक लोहा, पीतल का दो-मुँहा चम्मच, छोटा चिमटा तो सभी स्त्री-पुरुषों के कमरबन्द में लटकता रहता है।

गर्खुन ८६०० फ़ुट—४ मील आगे चलकर प्राचीन दर्द-जाति के इस समूह का गर्खुन मुख्य ग्राम है। जान पड़ता है, दर्दस्तान के ज़बरदस्ती मुसलमान किये जाते समय भागकर ये लोग इन पहाड़ों में आ गये। ये स्वयं भी अपने को गिल्गित से आये हुए कहते हैं। इधर बकरियों के दूध-मक्खन के सिवाय और कुछ नहीं मिलता; क्योंकि ये लोग गाय को इतना पवित्र मानते हैं कि निरुपयोगी होने से उसे कोई नहीं पालता। इन जातियों में एक बड़ा विचित्र रवाज है। जब किसी के घर लड़का होता है तब माता-पिता घर से बाहर नहीं निकलते। पेशाब-पाख़ाना भी घर के भीतर ही करते हैं; यह अवधि १५ दिन से एक मास तक होती है।

सारे लद्दाख में बड़े भाई हो की शादी होती है। उसकी स्त्री ही औरों की भी स्त्री होती है, किन्तु सन्तान बड़े भाई की ही कही जाती है। सन्तान न होने पर और शादी करने की इजाज़त नहीं मिलती है। घर की जायदाद का मालिक सिर्फ़ बड़ा भाई होता है। इस प्रथा ने जन-वृद्धि में बड़ी बाधा उपस्थित की है। यही नहीं, इसका एक भयंकर परिणाम भी इनके लिए होनेवाला है। बाल-तिस्तान के मुसलमान बराबर बढ़ रहे हैं। जगह न रहने से वे बौद्ध गाँवों में आकर बस रहे हैं। बौद्धों के तो उतने के उतने ही घर हमेशा रहते हैं; किन्तु ये आगन्तुक मुसलमान छलाँग मारते हुए बढ़ते हैं, जिसका परिणाम एक दिन बौद्धों से इनका अधिक हो जाना है।

गर्खूनीय बौद्धों में शादी प्रायः बड़ी अवस्था में होती है। ये लोग बड़े आमोद-प्रिय हैं। नाचने-गाने का इनमें बड़ा शौक़ है। स्त्री-पुरुष अपनी अपनी टोपियों को रंग-बिरंगे फलों से सजाते हैं। नृत्य-स्थान ग्राम का कोई केन्द्रीय स्थान होता है। नगाड़ा, बैंड की तरह का ढोल, रोशनचौकी और बाँसुरी ये बाजे हैं। पहले सारे ही बाजे बजते हैं। उस समय स्त्रियों की बारी में सिर्फ़ स्त्रियाँ, पुरुषों की बारी में सिर्फ़ पुरुष ६-७ या अधिक मिलकर एक स्वर से गीत गाते हैं। गीत का स्वर मीठा होता है, विशेषकर स्त्रियों का। गाना ख़तम होने पर रोशनचौकी बन्द हो जाती है, सिर्फ़ नगाड़ा बजता है और दाहने हाथ के कड़े को बायेंवाले पर तीन बार मार कर मुट्ठी बँधे हुए हाथ को सिर की ओर उठाकर स्त्रियाँ सलाम अदा करती हैं। फिर नृत्य आरम्भ होता है। नृत्य में बाजा एक ही रस बजता है। हाथों की भिन्न-भिन्न मुद्रा बनाते हुए धीरे-धीरे पैरों को ताल के अनुसार चलाती हैं, बस यही नृत्य है। स्त्रियों के बैठने पर पुरुष उठते हैं। इनके गीत उतने मीठे नहीं होते। नाच में हाथ की मुद्रायें उतने परिमाण में नहीं रहतीं। छंग (जौ की शराब) पी-पीकर, आनन्द में मस्त होकर, नृत्य करते हैं। बौद्धों के गाँवों की मुसलमान औरतें भी बड़ी स्वतन्त्रता से नाच में शामिल होती हैं। गर्खून में ६ औरतों में ३ मुसलमान थीं। मुसलमानियों की पहचान उनकी टोपी है, जो काले रंग की माला, मनिका तथा सुइयों के ताज से शून्य होती हैं। रंग-बिरंगे फूल वे भी लगाती हैं।

इधर स्त्रियों में नाक छिदाने की प्रथा नहीं है। पीठ पर रोयेंदार बकरी की खाल सभी के होती है। नृत्य के समय तो जान पड़ता है, राजा इन्द्र के अखाड़े की परदार परियाँ हैं। उनके गीतों का यहाँ एक नमूना देते हैं—

यक् स्कर्मा जुम्बरि यक्। सरिमी यस्तुत शर्बि यक्॥
(आज सिर में तारा आज)। (प्रकाशित हो रहा है आज)

थर्म चोङ्‌ा गङ्‌बि यक्। चोङ्‌ा शुम् शुम् सबि यक्।
(पूर्णचन्द्र शोभित है आज)। (चाँद तीन तीन शोभित हैं आज)

दिरिङ् ङिती ङ लम्पो जङ्‌बो थोङ्।
(आज नींद में स्वप्न सुन्दर देखा)
र्दक्—स्पोन्वो यल्वा थोङ्।
(मैंने स्वामी सुन्दर देखा)
लै अङ्‌बो ग्र्यचिङ् यल्वा थोङ्।
(देवता अति सुन्दर देखा)
र्दक्—स्पोन्वो जङ्‌बो सेर्छि स्क्युब्जुक्स।
(मेरे जैसे स्वामी सुन्दर ने आसन स्वीकार किया)
बुचाँ ङरालाँ छक्सु फुल॥
(बालक हम खड़े हैं हाथ जोड़)

गर्खुन से पाँच मील पर दाह नाला है। यही कर्गल और लद्दाख तहसील की सीमा है। दूसरे शब्दों में यह मुसलमान और बौद्ध प्रदेशों की सीमा है। दाह गाँव में भी मुसलमान आ बसे हैं; यद्यपि उनकी संख्या अभी कम है। यहाँ से दस-ग्यारह मील आगे अचिन-थङ् गाँव है। गाँव के पास नाले के पार आबाद होने लायक ज़मीन है। अधिकारियों ने उसका बौद्ध और मुसलमान दोनों के साथ बन्दोबस्त किया है। मुसलमान सल्मों गाँव से आकर बसे हैं। बौद्ध-इलाक़े की भूमि आमतौर से इस प्रकार बन्दोबस्त की जा रही है। फल? कुछ दिनों के बाद इस प्रदेश को भी मुसलमानी प्रदेश हो जाना होगा; क्योंकि मुसलमान भूमि के लिए बड़े उत्सुक हैं। इन्साफ़ तो यह था कि चूँकि बौद्ध अपनी विशेष प्रथा के कारण जन-संख्या बढ़ने नहीं देते और चिरकाल से वे इस देश में अपनी असंख्य 'मानी' और स्तूपों के साथ रहते आये हैं। आज दुनिया के विचारक सन्तान-निग्रह के सिद्धान्त पर बड़ी गम्भीरता से विचार रहे हैं। वे मनुष्य-जाति के हित के लिए इसे अनिवार्य समझते हैं। अतः इसे कार्यरूप में परिणत

करनेवाले बौद्धों को कुछ पुरस्कार मिलना चाहिए, न कि वहाँ बेतहाशा सन्तान पैदा करनेवाले मुसलमानों को ले जाकर बसाना चाहिए। अचिन्थङ् समुद्र-तल से ६४०० फ़ुट ऊँचा है। गाँव में पाँच घर बौद्धों के और एक घर मुसलमान का है। लाल टोपी-सम्प्रदाय के लामा की एक गुन्पा भी है। दीवार में गुन्पा के अन्दर दो तरफ़ दो प्रकार की तसवीरें हैं। एक तरफ़ तो सात्त्विक भाववाली, जिसमें भिन्न-भिन्न मुद्रा के साथ भगवान् बुद्ध की पद्मासनस्थ तसवीरें हैं। दूसरी तरफ़ वाम-मार्ग के बीभत्स चित्र। मुख्य तारा, बोधिसत्व, अतिशा की मूर्तियाँ मिट्टी की हैं; बनी अच्छी हैं।

गाँव के समीप या दूर आप बहुत-सी छोटे-बड़े पत्थरों की तीन-तीन हाथ चौड़ी छल्लियाँ देखेंगे। इनके ऊपर असंख्य छोटे-बड़े पत्थर रक्खे हैं, जिन पर 'ओं मनि पद्मेहु' मंत्र तिब्बतीय या रंजन अक्षरों में खुदा हुआ है। अक्षर बड़े ही सुन्दर हैं, जिनसे लामाओं की कला-प्रियता ज़ाहिर होती है। किन्हीं-किन्हीं छल्लियों (मानियों) पर लम्बी-चौड़ी पत्थर की पट्टियाँ हैं, जिन पर अत्यन्त सुन्दर अक्षरों में शास्त्र-वाक्य खुदे हुए हैं। ऐसे लाखों शिला-लेख रास्ता चलते आपको मिलेंगे। मानियों को रास्ते में रखने का एक और भी अभिप्राय है। बौद्ध इन्हें अपने दाहने हाथ रखकर चलते हैं, जिसमें आते-जाते समय उनकी परिक्रमा हो जाय और आदमी को उतनी बार के मंत्र-जप का पुण्य हो। गाँवों में तथा उनके ओर-छोर पर अनेक स्तूप मिलते हैं। ये वैसे ही हैं जैसे कि बुद्ध-गया तथा नालन्दा की खुदाई में मिले हैं। इसके शृंग पर चिह्न,—पंचमी के चन्द्रमा के ऊपर गोल, जिसके ऊपर एक छोटा-सा गोलप्राय खंड होता है। कभी-कभी यह स्तूप एक चौकोर द्वार के ऊपर होता है। भीतर-द्वार की छत में बड़े सुन्दर रंग-बिरंगे चक्र, चित्र या मंत्र चित्रित रहते हैं।

स्क्यबू चान्—अचिन्थाङ् से नौ मील पर सिन्धु-नद के ऊपर यह हरा-भरा गाँव बसा है। गाँव के नीचे दूर तक गेहूँ और जौ के हरे-भरे

खेत हैं, जिनमें अनेक छोटी-छोटी नहरें अनवरत बहती रहती हैं। जगह-जगह खूबानी, अखरोट तथा सेब के कितने ही वृक्ष हैं, जिनमें अखरोट विस्तार और छाया के विचार से बड़ा ही भव्य होता है। गाँव में कितने ही अच्छे मकान भी हैं। बौद्धों के मकान मुसलमानों से कई गुना साफ़ होते हैं। गाँव के सबसे ऊपरी भाग पर पहाड़ से लगी गुन्पा है। यह इधर की अन्य गुन्पाओं की भाँति लामा युरु की गुन्पा से सम्बन्ध रखती है। कोई तीस-बत्तीस लामा रहते हैं, जिनके रहने के लिए कई घर हैं। आज-कल युरु-गन्पा में उत्सव है, इसलिए वहाँ बहुत-से लामा चले गये हैं। लामों के अधिक होने का एक कारण है। बड़े भाई को ही यहाँ के बौद्धों में सारा अधिकार मिलता है, और छोटे भाइयों को उसका एक प्रकार के दास होकर रहना होता है। इसलिए छोटे भाइयों में से कितने ही लामा हो जाते हैं। हर एक गुन्पा में अपनी भूमि होती है; बल्कि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि लद्दाख की अधिकांश खेती के योग्य भूमि गुन्पाओं के पास है, जिनमें लामा स्वयं या अन्य गृहस्थों से खेती कराते हैं। वस्तुतः वेष के अतिरिक्त साधारण लामों और गृहस्थों में बहुत कम भेद है। य खेती-बारी, घास-फूस, गाय-बकरी की चरवाही आदि ही नहीं करते; बल्कि दर्शकों या राजकर्मचारियों की सेवा के लिए भी पकड़े जाते हैं। इनका लाल कपड़ा सरकारी नौकरों की दृष्टि में कुछ भी गुरुत्व नहीं रखता। पवित्र संन्यास-आश्रम की इस प्रकार अवहेलना तथा इस प्रकार का मर्यादातिक्रमण देखकर एक हिन्दू का हृदय दुखी हुए बिना नहीं रहता, विशेषकर एक हिन्दू-राज्य में। यदि अनधिकारियों के लामा (संन्यासी) बनने से यह अवस्था है तो इसका सुधार किया जा सकता है।

गुन्पा के आरम्भ होने के पूर्व ही अनेक स्तूप मिलते हैं, जो दो प्रकार के हैं—एक तो भक्तों की भक्ति के सूचक, दूसरे वे जिनमें स्वर्गीय किसी प्रतिष्ठित लामा की दग्धावशिष्ट अस्थियाँ हैं। दर्शक

को इन्हें अपने दाहनी तरफ़ करके चलना होता है। फिर वे छोटे-बड़े लोहे, टीन, ताँबे या पीतल के खोखले बेलन आते हैं जिनके ऊपर या भीतर 'ओं मनिपद्मे हुं' खुदा या काग़ज़ पर लिखा रहता है। इस तरह के अनेक बेलन भक्तों ने लगा रक्खे हैं। दर्शक जाते वक़्त इन्हें घुमाता जाता है, जिसमें उतने मन्त्र-जाप का उसे पुण्य हो। इधर गाँवों में कहीं कुत्ते नहीं देखे जाते। पहले-पहल स्क्यर्बू-चान गुन्पा में मैंने एक भयंकर काला कुत्ता जंज़ीर से बँधा देखा। गुन्पा में दो मंदिर हैं। एक तो सात्त्विक, जिसमें भगवान् बुद्ध (जिन्हें ये लोग शाक्यमुनि के नाम से पुकारते हैं) तथा दूसरे बोधिसत्वों की प्रतिमायें हैं। कुछ धातुमय स्तूप भी हैं। जूता पहने लोग मन्दिर में चले जाते हैं। मैंने इसके लिए बड़ा फटकारा। वे कहते हैं—यहाँ की यह प्रथा है। दूसरा मन्दिर वह है, जहाँ पर देम्छोग् (यव-युम्) आदि की बीभत्स अश्लील कामवासनोत्तेजक मूर्तियाँ हैं। महा-प्रभु गौतम की पवित्र शिक्षा यहाँ आकर कहाँ से कहाँ पहुँच गई! जिन अद्वितीय योगिनां चक्रवर्ती ने आजन्म इन्द्रिय-निग्रह का उपदेश दिया उनके नाम पर यह बीभत्स-कांड! इस कोठरी का सारा वायु-मण्डल अश्लीलता तथा कामवासना से परिपूर्ण है।

सिन्धु-नद्—दर्चक से ही हम सिन्धु के किनारे-किनारे ऊपर की ओर चलने लगे थे। सिन्धु यहाँ इन्द्र-नीलमणि की धार-सी मालूम होता है। जाड़े के दिनों में तीक्ष्ण प्रवाहवाले स्थानों को छोड़कर अन्य जगहों पर १ से ६ इंच तक पानी जम जाता है। एक इंच मोटी बर्फ़ बोझ के लदे हुए घोड़े के भार को सँभाल सकती है। बर्फ़ और पक्के शीशे की मज़बूती एक-सी है। सिन्धु की धार कहीं चौड़ी और कहीं बोतल की गर्दन-सी है। आस-पास के पहाड़ भिन्न-भिन्न खनिज पदार्थों से भरे हैं। सिर्फ़ सोना निकालने का काम पुराने ढंग से कहीं-कहीं होता है। इसके लिए प्रत्येक आदमी को माहवारी १२ रुपया देकर लैसन्स लेना पड़ता है। सिन्धु के तट के ऊपरी भाग को खोदनेवाले खोद-

कर एक प्रकार की बालू निकालते हैं, जिसे नियारियों की भाँति धो-धोकर सोने के कण इकट्ठे करते हैं। कई जगह पहाड़ में नारंगी, किरम्जी आदि रंगों की मिट्टी मिलती है, जिससे विज्ञानपटु अनेक रंग तैयार कर सकते हैं। ये पहाड़ सिवाय ग्रामों के जहाँ कि लोगों ने वृक्ष, वनस्पति लगाये हैं, बिलकुल नंगे हैं। स्क्यर्बूचान से १५ मील पर सिन्धु के उस पार वह नाला आता है जिसके किनारे 'ट्रीटीरोड' आता है। सिन्धु पर झूलावाले पुल से पार हो दोनों सड़कें मिल जाती हैं, जिसके बाद खल्सी का बड़ा गाँव आता है।

लामायुरु—ट्रीटीरोड पर खलची से १० मील पीछे लामायुरु है। यहाँ एक अच्छी खासी गुन्पा है। युरु वस्तुतः स्वस्तिक-चिह्न को कहते हैं। लोग आमतौर पर युरु ही कहते हैं। किन्तु बस्ती में लामों का प्राधान्य होने से लामायुरु कहा जाता है। लामायुरु के आस-पास के प्रायः सारे पहाड़ मिट्टी के हैं। गुन्पा एक पहाड़ी के शिखर पर है। पहली जून के आस-पास यहाँ उत्सव था, जिसकी वजह से १००-१५० लामा एकत्र हुए थे। यहाँ लामा (संन्यासी) और चोमो (संन्यासिनी) दोनों रहते हैं। चोमो के रहने का स्थान गुन्पा से हटकर है। लामों की पोशाक—नीचे अनेक टुकड़ों को जोड़कर सिला या एक लम्बा तहमद, उसके ऊपर बाहु-रहित जाकेट, ऊपर से एक लम्बी चादर है। रंग सभी कपड़ों का लाल। इसके अतिरिक्त लम्बा जूता तथा किसी समय टोपी भी पहनते हैं। तिब्बती लामों के दो प्रधान भेद हैं, जिन्हें उनकी भाषा में सेर्पोगोन् (पीतधारी) और मर्पोगोन् (रक्तधारी) कहा जाता है। दोनों के और सब कपड़े तो लाल होते हैं, किन्तु सेर्पोगोन् की टोपी पीली और मर्पोगोन् की लाल होती है। आचार में भी दोनों में भेद हैं। जहाँ सेर्पोगोन् छङ् (शराब) को निषिद्ध समझते हैं, वहाँ मर्पोगोन् खुल्लम-खुल्ला अपने मठों के अन्दर शराब पीते हैं। जो चोमो (संन्यासिनी) विशेष शिक्षा-प्राप्त होती हैं उनकी पोशाक बिलकुल लामों की-सी (त्रिचीवर) होती

हैं। अशिक्षित एक लम्बा चोगा-सा पहनती हैं। इनके सिर भी लामों की तरह मुड़े होते हैं। लामों की भाँति चोमों की भी मुखिया होती हैं, जो उनसे काम लेती तथा क़सूर होने पर दंड देती हैं। मठ के लिए चोमो लामा से भी अधिक उपयोगी है। लद्दाख के खेतों का अधिक भाग मठों की सम्पत्ति है। चोमो मठ के खेतों में बड़ा काम करती हैं। लामा या चोमो बनाने का यहाँ बड़ा रवाज है। चूँकि यहाँ पर पिता की सम्पत्ति का एक-मात्र उत्तराधिकारी बड़ा लड़का होता है, बाक़ी उसके दास की भाँति रहते हैं, जिसके बदले में बड़ा भाई अपनी स्त्री पर उनका भी हक़ स्वीकार करता है, तथा उन्हें खाना-कपड़ा देता है। किन्तु यह सब बड़े भाई की प्रसन्नता पर निर्भर है। यदि वह नाराज़ हो तो छोटे को घर से बाहर कर सकता है। इस प्रथा के कारण भी कितने ही छोटे भाई लामा हो जाते हैं। लामा होने पर उन्हें कुछ अधिक स्वतन्त्रता तथा खाने-पीने का आराम मिलता है। कुछ लड़कों को पुण्य-अर्जन करने के लिए माँ-बाप गुन्पा को भेंट कर देते हैं। कभी-कभी रुग्ण सन्तान से निराश होकर भी उसे भेंट चढ़ाते हैं। लद्दाख में स्त्री-पुरुषों की संख्या समान है; लेकिन शादी चार-चार, तीन-तीन भाइयों की एक हो जाती है; इसलिए कितनी ही स्त्रियों को पति नहीं मिलते। ये स्त्रियाँ या तो किसी मुसलमान के पास चली जाती हैं, अथवा गुन्पा में चोमो बन जाती हैं। कोई-कोई लड़कियाँ माता-पिता-द्वारा चोमो बनने के लिए अर्पण कर दी जाती हैं।

लामायुरु की गुन्पा फ़्याङ (ज्गौङ्ङ्) की गुन्पा के अधीन है। प्रधान गन्पा का अध्यक्ष कुशक् कहा जाता है। कुशक् के मर जाने पर कोई सर्वज्ञ लामा बतलाता है कि वह अमुक स्थान पर पैदा हुआ है। और भी निश्चय करने के लिए कभी-कभी ल्हासा के प्रधान दैवज्ञ से सहायता ली जाती है। फिर उस लड़के को, मठ के लामा, अनुनय-विनय करके जैसे हो तैसे मा-बाप से ले आते हैं। वह बच्चा

धीरे-धीरे बड़ा होता है तब तक मठ का काम-काज दूत-पद पर अधिष्ठित एक लामा करता है। बड़ी विचित्र बात है कि ये सभी कुशक् लद्दाख और तिब्बत के ही अन्दर पैदा होते हैं। इनमें से कोई भी भारत या किसी अन्य देश में पैदा नहीं होता। शायद इसलिए कि फिर उसका मिलना मुश्किल होगा॥ लद्दाख में ऐसे अवतारी पाँच कुशक् हैं, जिनके मठ हैं—हमिस्, फ़्याङ्, रिज़ोङ्, टिक्से और पितोक्। इनमें प्रथम दो लाल टोपीवाले। पितोक् का कुशक् मर गया। पीछे वह मठों के राजा (हज़ार-बारह सौ रुपया साल का पेंशनर) के घर द्वितीय पुत्र के तौर पर पैदा हुआ। आज-कल वह सात-आठ वर्ष का बालक कुशक् रिज़ोङ् के कुशक् के साथ रहकर विद्याभ्यास कर रहा है। सारे कुशकों में विद्या के लिहाज़ से रिज़ोङ्, और भक्ति के लिहाज से फ़्याङ् अच्छे समझे जाते हैं। पितोक् का भूतपूर्व कुशक् बकुला बड़ा ही समझदार, उद्योगी तथा पण्डित पुरुष था। अब तक लोग उसके लिए अफ़सोस करते हैं। वह उपदेश भी दिया करता था। दिल्ली-दरबार तथा काशी आदि को भी उसने देखा था। फ़्याङ् का कुशक् बड़ा ही साधु पुरुष है। यद्यपि उसने अपने ग्रन्थों को तिब्बतीय भाषा ही में देखा है; किन्तु संस्कृत सीखने का उसे बड़ा शौक़ है। रिज़ोङ् का कुशक् वैसे है तो पंडित; किन्तु उसने विवाह कर लिया है। ठिक्से का कुशक् ल्हासा से आया था। उसने आकर पीछे तम्बाकू, शराब आदि पीना शुरू कर दिया, जिससे मठवाले रुष्ट हो गये और उसे निकल जाना पड़ा। कहते हैं, पीछे वह ईसाई हो गया। लेकिन आजकल ल्हासा चला गया है। जांस्कार से वह एक औरत भी ले गया था, जिसे उसने दारजिलिंग ही में छोड़ दिया। हेमिस् की गुन्पा सारे लद्दाख भर में धन के विचार से बड़ी है। नक़द वार्षिक आय तो २५ हज़ार के क़रीब ही बताई जाती है; किन्तु ग़ल्ला (गेहूँ, ग्रिम, बिना छिलके के जौ) ७०-८० हज़ार मन हो जाता है, जिसका मूल्य दो-तीन लाख होगा।

सभी गाँवों में इस मठ की ज़मीन है। कहते हैं, जब लद्दाख स्वतन्त्र था तब एक राजा के दो लड़के थे। बड़ा राजा बना, और छोटा हेमिस् का कुशक् बना और साथ ही आधा राज्य भी उसको मिला। ७०-७५ वर्ष पूर्व जब वज़ीर जोरावरसिंह ने लद्दाख को कश्मीराधिपति के लिए विजय किया तब जहाँ और गुन्पाओं ने आक्रमणकारी का साथ नहीं दिया, वहाँ हेमिस् ने सब तरह से मदद दी। तिब्बत की चढ़ाई में भी इस गुन्पा ने अन्न की बड़ी भारी मदद दी। इसके पुरस्कार में हेमिस् की सारी जायदाद उसके पास रह गई। सारे कश्मीर-राज्य में भूमि महाराज की है, कृषक केवल काश्तकार हैं। उसको केवल काश्तकारी तक बेचने का अधिकार है। हेमिस् गुन्पा के लिए भी यही बात है।

लामायुरु का वर्णन करते हुए मैं प्रकरणान्तर में चला गया; किन्तु सभी बातों को अच्छी तरह समझने के लिए इसकी भी आवश्यकता थी। युरु की गुन्पा जैसा कि मैंने ऊपर बतलाया है, फ़्याङ् की शाखा है। लाल टोपीवालों में भी यह डिगुङ्-पा कहे जाते हैं। अन्य गुन्पाओं की भाँति इनका भी प्रधान मठ डिगुङ् के नाम से ल्हासा के पास है। उसमें कहते हैं, सात हज़ार से ऊपर लामा रहते हैं। कितने ही लामा जब यहाँ से ल्हासा पढ़न जाते हैं तब अपने प्रधान मठ में रहते हैं। वहाँ उन्हें कुछ दैनिक अपेक्षित वस्तुएँ दी जाती हैं। इसके बदले जब प्रधान मठ का व्यापारी-क़ाफ़िला इधर ख़रीद-फ़रोख़्त के लिए आता है तब सभी पड़ावों पर, जहाँ उनके शाखा-मठ होते हैं, घोड़ों के लिए घास-दाना तथा अन्य सामान दिया जाता है। युरु में भी ल्हासा से लौटे कुछ लामा हैं। ल्हासा में तिब्बतीय भाषा में धार्मिक पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं तथा रुचिवालों को चित्रकारी भी सिखाई जाती है।

मठों के लामा दो प्रकार के होते हैं—एक नागरिक, दूसरे आरण्यक। दोनों में अन्तर यह है कि नागरिक बड़ी-छोटी गुन्पाओं में

रहते हैं और आरण्यक पहाड़ों के एकान्त स्थान में। आरण्यकों के सिर पर जटा भी होती है। इन सारे सौ-डेढ़-सौ लामाओं में सिर्फ़ एक ऐसा मिला जो टूटी-फूटी हिन्दी समझता था, तथा कुछ देवताओं के संस्कृत नाम भी जानता था। आजकल उत्सव 'छोस्' (धर्म-पुस्तकों के पाठ) का है। मन्दिर में पंक्ति-क्रम से पचासों आदमियों के लिए आसन लगे हैं। सामने पुस्तकें रक्खी हैं। कहीं-कही धूपदानी भी है। एक तरफ़ 'शाक्याथूबा' (भगवान् बुद्ध) तथा महायान-सम्प्रदाय के अनेक बोधिसत्व तथा देवी-देवता हैं। बायें कोने में छोटे मन्दिर के अन्दर मैथुन-रत देम्छोग्यब-युम तथा दूसरे वाममार्गी देवताओं की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर की दीवारों पर जहाँ अनेक बुद्ध, बोधिसत्व तथा देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं, वहाँ द्वार से भीतर घुसते ही बाईं तरफ़ की दीवार में अनक भ्रष्ट देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर में जूता ले जाने का कोई निषेध नहीं। यहाँ के लोगों ने तो बतलाया कि नंगे पैर से जूते-सहित जाना अच्छा है; क्योंकि इनके पैर बहुत ही दुर्गन्ध देते हैं। खैर, मेरी हिम्मत तो जूता पहने देवमूर्ति के सम्मुख जाने की नहीं हुई। पाठ के मध्य में कितनी ही बार मक्खन और नमक डाली गाढ़ी चाय का दौरा भी चलता रहता है। कोई पाठ करता है तो कोई बात भी करता जाता है। वायुमण्डल भारी जान पड़ता है। यद्यपि मन्दिर के बीच की छत कुछ ऊँची करके उसम खिड़कियाँ लगी हैं, किन्तु उनसे इतना प्रकाश नहीं आता कि भीतर का अन्धकार पूर्णतया दूर हो सके। एक ताँबे का खुले मुँह का बड़ा बर्तन है, जिसमें तेल भरा हुआ है। इसके ढक्कन में दो इंच के व्यास का एक छेद काटा हुआ है। बीच में बत्ती डाली हुई है। यह दीपक दिन-रात जलता रहता है, यद्यपि इसका प्रकाश सिर्फ़ बर्तन के भीतरी भाग को ही प्रकाशित करता है। मन्दिर में दाहनी और बाईं तरफ़ की दीवारों के पास काठ के खानों में अनगिनत ल्हासा की छपी तथा लिखी पुस्तकें वेष्ठन में बँधी हुई रक्खी हैं। इनमें से कुछ में कुछ

संस्कृतवाक्य भी मिलते हैं। यद्यपि अधिकांश तांत्रिक बौद्ध-सम्प्रदाय की पुस्तकें हैं, तथापि कुछ प्रज्ञापारमितायें, विनय वस्तु आदि की भी पुस्तकें हैं।

मन्दिर से बाहर निकलकर बाईं तरफ़ ६०-७० आदमियों के बैठने का एक हाल है। इसकी दीवारों पर अनेक रंगों की अति सुन्दर अनेक तसवीरें हैं। इसमें दर्वाज़ा सिर्फ़ एक छोटा-सा है, जो एक कोने में है। एक दीवार में अनेक सौम्य देव चित्रावली हैं तो दूसरे में अनेक बुद्ध, बोधिसत्व और लामा तो तीसरे में पंचमकार-रत अनेक देवी-देवता। सबसे हृदयवेधी तो वह चित्र था जिसमें पद्मासनस्थ भगवान् बुद्ध को भी उसी प्रकार दिखलाया गया है। भगवान् के पवित्र उपदेश और जीवन को इन्होंने क्या-से-क्या कर दिया! चौथी में अनेक लामा तथा देवी-देवता मनुष्य-कपाल में शराब पी रहे हैं। यह हाल छङ् (शराब) पीने के लिए है। मन्दिर के पीछे की तरफ़ इसी तरह के चित्रोंवाला, किन्तु अधिक प्रकाश-युक्त इससे बड़ा एक और हाल है, जिसमें बच्चे-बूढ़े सभी लामा बैठे छङ्-पान कर रहे थे। १२-१२ वर्ष के लड़के नशे में चूर थे। पीतल और ताँबे के बड़े बर्तनों से बड़ी-बड़ी करछूलों-द्वारा छङ् परोसी जा रही थी। चारों तरफ़ छङ् की गंध फैल रही थी। एक दूसरी कोठरी में, वहाँ से थोड़ा ही हटकर, चोमो (भिक्षुनी) का चक्र चल रहा था। बाहर छत पर अनेक गृहस्थ तथा भिखमँगे भी अपने-अपने प्यालों में छङ्-पान कर रहे थे। यहाँ राज्य की तरफ़ से छङ् बनाने की कोई मनाही नहीं है।

लामायुरु गाँव में प्रायः ३०-४० घर बौद्ध-गृहस्थों के हैं। ज़मीन अधिकतर मठ की है। जो कुछ पैदावार होती है वह लामों के पास सवाई, लगान तथा पूजा में चली जाती है। मुश्किल से तीन महीने का अनाज उनके पास बच रहता है। बाक़ी दिन ये लोग मेहनत-मज़दूरी, कम्बल-पट्टू की बुनाई आदि के द्वारा काटते हैं। यही दशा सारे

लद्दाख की है। ये मुफ़्त-खोरे लामा गृहस्थों की मेहनत की कमाई से पल कर मोटे हुए हैं; किन्तु बदले में उन्हें शराब आदि की बुरी आदत के सिवा कुछ नहीं देते। बौद्ध स्त्रियाँ दनादन मुसलमानों से शादी कर रही हैं। यहाँ भी एक मुसलमान एक बौद्धस्त्री से शादी करके बस गया है। उससे उसके कई लड़के पैदा हुए हैं। बौद्ध इसे बिलकुल बुरा नहीं मानते; बल्कि उलटे खुश होते हैं। वह भी अन्य ग्राम-वासियों से अधिक सुखी है। उसने एक छोटी-सी दूकान रक्खी है। मठ और गृहस्थों के लिए मांस भी तैयार कर देता है। दस वर्ष के बाद उस एक घर से पाँच घर मुसलमानों के हो जाना अनिवार्य है। उसके लड़कों को यहीं काफ़ी लड़कियाँ मिल जायँगी। यदि प्रत्येक लड़के पीछे चार और सन्तान हों तो तीस-चालीस साल बाद इसके बीस-पचीस घर हो जायँगे और साठ-सत्तर वर्ष के भीतर-ही-भीतर इस गाँव में पचास घर मुसलमानों के हो जायँगे। इसके विरुद्ध बौद्ध-घर जितने पाँच सौ वर्ष पहले थे, उतने ही अब हैं, और पाँच सौ साल बाद भी अपने प्रथानुसार हरगिज़ नहीं बढ़ सकते, चाहे कम भले ही जायँ; क्योंकि सम्पत्ति और शादी के लिए अधिकार सिर्फ़ बड़े भाई को है।

सारे लद्दाख के बौद्धों की पोशाक एक-सी है। मर्द अपने सिर के बाल गूँथकर, ऊन या सूत से जोड़, कमर से नीचे तक की चोटी बनाते हैं। सिर पर कनटोप—ऊनी, सूती या भेड़ के बच्चे की नर्म खाल (चरु)—रखते हैं। प्रायः गहरे लाल रंग का लम्बा ऊनी चोग़ा, नीचे किसी रंग का पायजामा, पैर में चमड़े के तल्ले तथा ऊन के उपतल्ले भागवाला, घुट्ठी के ऊपर या घुटने के पास तक के पप्पू जूता, कमर में लम्बा कमरबन्द, जिसमें एक तरफ़ चकमक का लोहा लटक रहा है, दूसरी तरफ़ लोहे का पतला-सा क़लम रखने का कलमदान और चाक़ू खोंसा हुआ है। स्त्रियों की पोशाक काले या लाल रंग का लम्बा चोग़ा कमरबन्द-सहित, पायजामा, पप्पू, सिर पर दो-



एक लद्दाख-निवासी

दो, चार-चार सेर भारी फ़ीरोज़े के अनेक टुकड़ों, ताँबें की ताबीज़ों से लाल कपड़े में जड़ा हुआ साँप के फन की शकल का 'पीरग' नामक आभूषण, कानों के ऊपर चरूको, बालों में गूँथकर हाथी के कान-सा बनाया गया है। दूर से देखने पर ये हाथी के कान और पीरग सूँड़ पीछे की तरफ़ फेंका जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त मूँगे आदि की मालायें तथा लम्बे बालोंवाली बकरी की खाल भी प्रायः प्रत्येक स्त्री की देह पर पाई जाती है। हाथ में शंख का चूड़ा होता है।

मुसलमानों की स्त्रियाँ काले रंग की पोशाक पहनती हैं। पोशाक है—लम्बा कुर्ता, पायजामा, टोपी, ओढ़नी, और पप्पू (चमड़े और ऊनी कपड़े का बना एक तरह का लम्बा बूट)। ओढ़नी पिछले साल (१९२५ ई०) से शुरू हुई है। रंग अधिकतर गेहुँआ होता है; किन्तु नहाने-धोने की आदत न होने से वह काला दिखाई पड़ता है। हल जोतने और माल-लदाई के अतिरिक्त सारा काम इनमें स्त्रियाँ ही करती हैं। इनमें धर्मान्धता बहुत अधिक है। अपने गुरुओं को—जिन्हें आग़ा कहते हैं—बहुत मानते हैं। बाल्ती लोग कर्गिल और स्कर्दू दो तह-सीलों में हैं। इनके कई आग़ा हैं—इनमें से कोई-कोई ईरान से पढ़ कर लौटे हुए हैं। इनमें एक विचित्र प्रथा 'मुता' की है। मुता का मतलब मियादी शादी है। मान लीजिए, आप शिया हैं। आप इस देश में चले आये और चाहें कि मैं बीबीवाला बन जाऊँ—किन्तु साथ ही हमेशा के लिए नहीं—ऐसी हालत में किसी युवती लड़की अथवा विधवा से आप मुता के लिए कहेंगे। उसके स्वीकार कर लेने पर मुल्ला बुलाया जायगा। उसे चार-पाँच आना दक्षिणा देनी होगी। वह उस युवती के साथ आपके इच्छानुसार—चाहे एक रात या दस वर्ष के लिए—कुछ महर (स्त्री-धन) के साथ मुता पढ़ा देगा। प्रतिज्ञात मीयाद के बाद यह सम्बन्ध स्वयं विच्छिन्न हो जायगा। आग़ा लोग जब अपने चेलों में घूमते हैं तब हर जगह कई-कई सुन्दरी

स्त्रियों के साथ एक-एक दो-दो रात के लिए मुता कर लेते हैं। मुता के लिए इसी दुनिया में सुख होता है, यह नहीं; बल्कि वे उपदेश देते हैं कि इस पवित्र कृत्य से मनुष्य स्वर्ग का भागी होता है। पाठकों को इसमें ज़रा भी सन्देह और आश्चर्य प्रकट करने की आवश्यकता नहीं; यह प्रथा यहाँ पर आम है। किन्हीं-किन्हीं आग़ों ने तो यहाँ तक फ़तवा दे रक्खा है कि विवाहिता स्त्री के साथ यदि एक रात्रि भी कोई पुरुष न शयन करे तो निकाह (विवाह) टूट जाता है। आग़ा के आने पर स्त्रियाँ तथा उनके पिता-माता बड़ी ख़ुशी के साथ अपनी लड़कियों को उनके सम्मुख मुता के लिए पेश करते हैं। कितने ही पति तो पुण्य लूटने के लिए यहाँ तक बावले हो जाते हैं कि अपनी स्त्री को तलाक़ देकर मुता के लिए प्रदान करते हैं। पीछे, आग़ा के चले जाने पर, फिर उसके साथ निकाह कर लेते हैं।

हिन्दू इधर बिलकुल नहीं हैं, सिवाय कुछ राज-कर्मचारियों और कर्गल-जैसे क़स्बों के कुछ व्यापारियों के। प्रलोभनवश कितने ही हिन्दू यहाँ आकर मुसलमान भी हो जाते हैं। लद्दाख की तरफ़ के बौद्धों की लड़कियों को भी ये मुसलमान आमतौर से व्याह लेते हैं। बौद्ध इनका जूठा खाते हैं; किन्तु ये उनका छुआ दूध भी नहीं पी सकते। इसलिए इनको अपनी लड़की देने में बौद्धों को कोई हिचकिचाहट नहीं होती।

कर्गिल—शिम्साखर्बू से १५ मील आगे श्रीनगर से १२३ मील पर समुद्रतल से ५७६० फ़ुट ऊँचा कर्गिल स्थान है। कर्गिल-तहसील का यही हेडक्वार्टर है। तहसील, अस्पताल, डाक, तारघर के अतिरिक्त एक प्राइमरी स्कूल भी यहाँ है। बाज़ार में कुछ हिन्दुओं की दूकानें हैं। डाक-बँगला और सराय भी यहाँ की अच्छी है। यहाँ का जलवायु शुष्क तथा ठण्डा है। टेम्परेचर १०० से ऊपर नहीं जाता; किन्तु जाड़े में वह शून्य से भी १६ अंश (अर्थात् हिमविन्दु से ४२° नीचे) नीचे चला जाता है। बाहर से आनेवाले यात्री के हाथ-

मुँह इधर आते ही फटने लगते हैं। रंग भी स्याह या ताम्रवर्ण हो जाता है। कुछ दिनों पहले यहाँ आकर एक साधु रहे थे। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से यहाँ एक शिवमन्दिर बनवाया; किन्तु पीछे वे उदास होकर चले गये। उनकी वह कीर्ति अब भी मौजूद है।

युरु से लद्दाख जाने के लिए खलची जाना पड़ता है। यहाँ डाक, तार और डाक-बँगला है। दो अँगरेज़ पति-पत्नी पादरी तथा तीन घर ईसाइयों के भी हैं। उनकी एक पाठशाला भी है। गाँव में कई घर मुसलमानों के भी हैं, जो बौद्ध-स्त्रियों से शादी करके बढ़ते जा रहे हैं। मुसलमान दूकानदारी का काम करते हैं। कोई-कोई खेती भी करते हैं। बाहर के मुसलमान और बौद्ध-स्त्रियों की सन्तान 'अर्गोन' कही जाती हैं। ये बड़ी ही गोरी तथा सुन्दर होती हैं। मज़हब में ये कट्टर मुसलमान होते हैं।

रिज़ोङ्—खलची से नूरला होते हुए आगे चलने पर नाले में ३ मील हटकर पहाड़ पर रिज़ोङ् गुन्पा है। 'रि' यहाँ की भाषा में पहाड़ को कहते हैं, और ज़ोङ् क़िले को। प्रधान गुन्पा से प्रायः आधा मील नीचे चोमो के रहने का स्थान है। यह पीली टोपीवाले लामों की गुन्पा है। प्राचीन काल में जब बौद्ध-धर्म तिब्बत में आया तब वह अपने शुद्ध रूप में था। उस समय तिब्बत में बोनज्-धर्म था। धीरे-धीरे बौद्ध लामों पर भी इसका रंग चढ़ गया। इसके बाद भारतवर्ष मे दीपंकर श्रीज्ञान नामक महाविद्वान् सुधारक, जिन्हें तिब्बती लोग अतिशा भी कहते हैं, १०४२ ई० में तिब्बत में आये। तिब्बत ही में ल्हासा के पास १०५४ ई० में दीपंकर ने शरीर छोड़ा। इस महापुरुष ने बहुत सुधार किया। यहाँ भिक्षुनियों की संख्या २० है। इनमें जो पढ़ी हैं, उन्हें लामों की-सी पोशाक रखने का अधिकार है। ये चोमो-लामों से भी अधिक काम करती हैं। दूर तक नाले में गेहूँ, ग्रिम, जौ, शल्गम आदि की इन्होंने खेती कर रक्खी है। मीलों तक सफेदा, वीरी, और खूबानी का बाग़ लगाया है।

गुन्पा चारों तरफ़ से पहाड़ों से घिरी है। सिर्फ़ एक पतला-सा रास्ता खुला है। वस्तुतः यह पहाड़ी क़िला है। गुन्पा से कुछ दूर नीचे एक मकान है, जिससे आगे शराब-मांस नहीं जा सकता। और न कोई सिगरट-तम्बाकू पी सकता है। मद्यपान इन लामों के लिए सख़्त मना है। लामा प्रायः ३० हैं। तिब्बतीय भाषा में ये अपने ग्रन्थों को पढ़ते हैं। इनका कुशक् (महंत) कुछ संस्कृत भी जानता है। आजकल वह खर्दुङ्-ला के उस पार नुबरा में है। उसने शादी कर ली ह। ४-५ वर्ष पहले यहाँ एक नया मन्दिर बना है। मन्दिर की चित्रकारी बहुत अच्छी है। दो बड़ी मूर्तियाँ शाक्यमुनि गौतम बुद्ध और भावी बुद्ध मैत्रेय की हैं। यहाँ पर मन्दिर के अन्दर जूता पहनकर नहीं जाते; किन्तु दर्शक विदेशियों के डर के मारे वे इसका आग्रह नहीं करते। पुराने मन्दिर में बुद्ध अवलोकितेश्वर आदि की मूर्तियाँ हैं। यहाँ भी एक कोने में भैरव की अश्लील मूर्ति है। बौद्धों की संख्या दिन-पर-दिन घट रही है; किन्तु इन्हें इसकी कुछ चिन्ता नहीं। पूछने पर काल और भाग्य का नाम लेकर घोर निराशा प्रकट करते हैं। और स्थानों से यहाँ के लामा विद्या और आचार में अच्छे हैं।

सस्पोला गाँव से पहले भावी बुद्ध मैत्रेय की १२ हाथ से ऊँची तीन मूर्तियाँ हैं। किसी समय भारत में भी इस तरह की मूर्तियाँ पाई जाती थीं; किन्तु मुसलमानों की धर्मान्धता ने उनका चिह्न तक बाक़ी न रहने दिया। 'ला' या 'ल्हा' यहाँ की भाषा में देवता को कहते हैं। सभी ऊँचे पार्वत्य स्थान इनके विचार से किसी-न-किसी देवता के स्थान हैं; इसी लिए ये प्रत्येक दर्रे को 'ला' के नाम से पुकारते हैं। मुसलमान भी इसी भाव को प्रकट करते हैं, जब कि वे उन्हें 'पीर' कहते हैं। सस्पोला से ३-४ मील आगे उक्त नाम का दर्रा और मैदान है। फिर नीचे उतरकर नाले में बज्गो ग्राम है। बहुत पुराने समय में यही लद्दाख की राजधानी थी। लेह

राजधानी यहाँ से पीछे बनी। अब भी यहाँ नगर-प्रकार के चिह्न हैं। खँडहर भी अधिक हैं। बस्ती कम होते-होते बहुत थोड़ी रह गई है। मुसलमान भी यहाँ हैं, और बढ़ रहे हैं। पुराने स्तूपों और मानी की छल्लियों की यहाँ बहुत अधिकता है। बज़्गो से आगे एक बहुत लम्बा-चौड़ा मैदान है। पानी के बिना यह आबाद नहीं हो सकता, यद्यपि १०-१२ मील ऊपर सिन्धु से नहर निकाली जा सकती है। इस मैदान में दो मील से ऊपर लम्बी मानी की छल्ली है। इन सभी स्थानों से निराशा प्रकट हो रही है। जान पड़ता है, लद्दाख के बौद्धों के निराशामय भविष्य पर ये भी शोक प्रकट कर रहे हैं। इस बालू-मिट्टी के मैदान को पार कर नीमू पहुँचते हैं। राज्य का सफेदों का बाग़ बड़ा सुन्दर है। लोगों ने नहरें निकालकर मीलों लम्बी-चौड़ी भूमि आबाद की है। गेहूँ आदि की खेती चारों तरफ़ लहरा रही है। अभी ये खेत अगस्त के अन्त में कटेंगे। नीमू में फिर सिन्धुनद छूट जाता है। एक छोटे-से दर्रे से हम एक लम्बे-चौड़े मैदान में पहुँचते हैं, जिसके आसपास हिमाच्छादित पर्वत-मालायें दिखाई पड़ती हैं।

फ्याङ्—दस मील आगे चलने पर रास्ते से दो मील ऊपर की तरफ़ फ़याङ् आता है। यहाँ एक अच्छी गुन्पा है। लामा १०-१२ ही रहते हैं; किन्तु कुशक् यहाँ का बहुत ही साधु पुरुष है। यह लाल टोपी-वालों की गुन्पा है; अतः वाम-मार्ग (मद्य) का प्राधान्य यहाँ आवश्यक ठहरा। यहाँ भी नये सिर से गुन्पा बनाने का काम शुरू है। 'देम्छोग' का यहाँ पृथक् मन्दिर है। शराब की बू से यह मन्दिर भरा है। छत से सींग और जंगली मुर्दा जानवर लटकाये हुए हैं। खोपड़ी का प्याला भी देवता के सम्मुख रक्खा हुआ है। मूर्तियाँ और चित्र बड़े गन्दे हैं। कुशक् बेचारा क्या करे जब कि यहाँ की यह परिपाटी ही है। फ्याङ् में भी मुसलमान-घर हैं और इसके नीचेवाली भूमि को तो स्तोक् के राजा ने मुसलमान असामियों को दे ही दिया है।

पितोक्—चार-पाँच मील आगे चलने पर सिन्धु नद के किनारे

आस-पास के पहाड़ों से अलग एक पहाड़ी टेकरी पर 'पितोक्' गुन्पा है। गुन्पा साधारण है; किन्तु इसके भूतपूर्व कुशक् बकुला की विद्या और स्वभाव की अब भी लोग बड़ी चर्चा करते हैं। वर्त्तमान कुशक् सात-आठ साल का बालक है।

पितोक् से चार मील पर मैदान के ऊपरी भाग में पहाड़ के किनारे लेह नगर है। चढ़ाई मालूम नहीं होती। 'लेह' यहाँ की भाषा में चश्मों की जगह को कहते हैं। तिब्बत, कुल्लू, पंजाब और यारकन्द, खोतन के सौदागरों को इसी रास्ते से गुज़रना पड़ता है। लेह एक सात-आठ मील लम्बे और तीन-चार मील चौड़े ढालू मैदान में स्थित है। सिन्धु यहाँ से पाँच मील पर है। लद्दाख और तिब्बत के हिन्दुस्तानी सौदागरों की यहाँ भी दूकानें हैं। गर्मी में लद्दाख-ज़िले का वज़ीर यहीं रहता है। यहाँ राज्य की ओर से एक अँगरेज़ी मिडिल स्कूल तथा जानवरों और आदमियों के अस्पताल भी हैं। ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भी अपना अस्पताल खोल रक्खा है; लेकिन उसका सारा प्रबन्ध मोरावियन मिश्नरियों के हाथ में है। मिश्नरियों का काम बौद्धों को ईसाई बनाना है। वे अपने इस काम में अस्पताल को साधन समझते हैं। फिर गवर्नमेंट ने अपना अस्पताल उनके हाथ में क्यों दे रक्खा है? सिर्फ़ सहायता की बात होती तो उतना हर्ज न था, यद्यपि राज्य के अन्दर उसकी भी आवश्यकता न थी। गर्मियों में दो मास के लिए ब्रिटिश ज्वाइंट-कमिश्नर भी आकर यहाँ रहता है। चूँकि लद्दाख की सीमा तिब्बत और चीनी तुर्किस्तान से मिली हुई है, इसी लिए सावधानी के लिए भारतीय गवर्नमेंट के राजनीतिक विभाग को यहाँ अपना एक प्रतिनिधि रखने की आवश्यकता पड़ी।

लद्दाख तहसील में सिर्फ़ ८ पुलिस के सिपाही रहते हैं, जिनको भी कोई बहुत काम नहीं रहता। फ़ौजदारी के मुक़दमे बहुत ही कम होते हैं। गाँवों में चौकीदारों की कोई आवश्यकता नहीं। अनेक



लेह के समीप एक मैदान में अंकित एक मील लम्बी पत्थर की दीवार

गाँवों पर एक नम्बरदार और अनेक नम्बरदारों पर एक ज़ेलदार रहता है, जिनका काम समय पर हाकिमों की सहायता करना है। नम्बरदार को अपने हल्के की खेतों की आमदनी पर ५) सैकड़ा मिलता है। ज़ेलदारों को ७० से १०० रुपया सालाना तक मिलता है। यहाँ के लोग बड़े सीधे-सादे, सच्चे तथा भीरु होते हैं। एक मामूली चपरासी वह रोब रखता है, जो और जगह पुलिस सब-इंसपेक्टर का नहीं है। इसका एक और भी बुरा परिणाम है। बौद्ध बेचारे सीधे-सादे हैं, चपरासी बहुत-से मुसलमान हैं, क़ानूनगो और पटवारी भी बहुत-से मुसलमान हैं। ये अकसर उन पर नाजायज़ दबाव डालते हैं। बौद्धों की लड़कियों को भगाने में भी अकसर इनका हाथ देखा गया है। हाकिमों और यात्रियों के लिए प्रत्येक गाँव को बारी-बारी से निश्चित स्थान पर नियत संख्या में घोड़े और आदमी रखने होते हैं। आदमी को)॥ मील और घोड़े को –) मील मिलता है, जो बहुत कम है। अधिकांश यात्री दिन में १०-१२ मील यात्रा करते हैं। इस प्रथा को 'रेस' कहते हैं। लोग इससे बड़ा कष्ट अनुभव करते हैं।

मैंने पीछे लिखा था कि कर्गिल और स्कर्दू इन दो तहसीलों में प्रायः सभी शिया मुसलमान रहते हैं। जो बौद्ध हैं भी वे गर्कून के दो-चार गाँवों के अतिरिक्त दो इलाक़ों मे मुल्बे और जांस्कार में हैं। इनकी संख्या तीन-चार हज़ार है। कर्गिल में लद्दाख जानेवाली सड़क पर मल्बे पड़ता है। इन बौद्धों की क्या अवस्था है, यह इससे मालूम हो सकता है। बोध-खर्बू (सिम्सा खर्बू से भिन्न) की तरफ़ का रहनेवाला १८-१९ वर्ष का एक युवक कर्गिल में मिला। उसकी माँ मुसलमानिन है। बाप, तीन भाई और दो बहनें बौद्ध हैं। तू क्यों मुसलमान है, यह पूछने पर उसने कहा—मेरी माँ जो मुसलमान है। जिसका बाप मुसलमान होगा उसके तो सभी बच्चे मुसलमान होंगे। माता के मुसलमान होने पर एक पुत्र ज़रूर मुसलमान होगा; ताकि

माता के लिए वह फ़ातिहा पढ़ सके। माँ के मुसलमान होने से यह न समझिए कि इधर के मुसलमान बड़े हैं; इसलिए वे अपनी लड़की को ग़ैर-मुसलमान से ब्याह देते हैं। नहीं, वे भी बौद्ध माता-पिता की ही सन्तानें हैं, जो ख़ामख़ाह स्वेच्छा-पूर्वक इस्लाम के गल्ले में दाख़िल की गई हैं।

ये शिया मुसलमान तो कश्मीरी पंडितों तक को काफ़िर समझ उनके हाथ का पानी तक नहीं ग्रहण करते। मुल्बे और जांस्कर वे इलाक़े हैं, जहाँ के बौद्ध मुसलमान हुए बिना बहुत दिनों तक बच नहीं सकते। जहाँ किसी गाँव में एक मुसलमान आया, पहले तो वह वहीं से अपने और अपने सहधर्मी मित्र के लिए उस गाँव के बौद्धों में से दो-एक लड़की अवश्य लेगा। मुसलमान बौद्धों के हाथ का पानी नहीं पीते। उधर बौद्ध और उनके बड़े-बड़े लामा महन्त मुसलमानों का जूठा तक खा जाते हैं। इसकी वजह से बौद्ध मुसलमानों को अपने से ऊँचा समझते हैं और उनके साथ अपनी लड़की की शादी होते बुरा नहीं मानते। बालतिस्तान में मुसलमानी आबादी बराबर बढ़ रही है। एक यहाँ के अनुभवी सज्जन ने कहा कि यहाँ गाँवों में लड़के ७०-८० फ़ी सदी तक पाये जाते हैं। इसमें शक नहीं कि गाँवों में लड़के अधिक देखने में आते हैं। मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से बालतिस्तान की असाधारण जनवृद्धि का पता लगता है। इस बढ़ती हुई जन-संख्या का आसपास के प्रदेशों पर धावा मारना स्वाभाविक है। फलतः मुसलमान एक-दो करके आस-पास के बौद्ध-इलाक़ों में चले जाते हैं। बौद्ध बड़ी ख़ुशी से इन मुसलमानों को अपने गाँवों में स्थान देते हैं; क्योंकि उन्हें भेड़-बकरी हलाल कर देनेवाला एक उपकारी मनुष्य मिल जाता है। धीरे-धीरे हर एक घर से दो और दो घर से चार घर हो जाते हैं। फिर वह बड़े ठाट-बाट से अपने गुरु आग़ा की पधरावनी अपने यहाँ कराता है। देखा-देखी मिथ्या विश्वास में सम्पूर्णतया मग्न गाँव के बौद्ध भी आग़ा की ख़िदमत के लिए आते हैं।

आग़ा उन्हें भी इस्लाम की बर्कत का उपदेश देता है। यहाँ के गाँव दो पहाड़ों के बीच से जानेवाले नालों या नदियों के किनारे बसे हैं। आग़ा की सवारी नाले के किनारे के सभी गाँवों में जाया करती है। जहाँ दो-चार साल इस तरह पधरावनी हुई कि सारा नाला मुसलमान हुआ।

ये आग़े बड़े चतुर हैं। जब मुसलमानों की संख्या कम देखते हैं तब शरीयत की पाबन्दी पर ज़ोर नहीं देते। अपने अनुयायियों को भी बौद्धों के साथ मिल कर नाचने-गाने देते हैं; किन्तु जैसे ही सारे गाँव के लोग मुसलमान हुए कि इन सभी काफ़िराना रस्मात को बन्द करा देते हैं। संक्षेप में बौद्ध गाँव का नाचता-गाता अकेला मुसलमान भी पक्का मुसलमान है। उसे बौद्ध कभी हजम नहीं कर सकते; किन्तु दूसरी तरफ़ बौद्धों में हिन्दुओं की कमज़ोरियाँ विद्य-मान हैं। वह गुन्पा में भी पूजा कर लेता है और अवसर पा मुसलमानी जियारतगाह की भी ज़ियारत कर सकता है। वस्तुतः भूत-प्रेत की बहुत-सी कथाओं के अतिरिक्त उसे अपने धर्म का कुछ पता भी तो नहीं होता। पता हो कैसे, जब कि उसका गुरु—लामा—भी छङ् (कच्ची शराब) को बेधड़क उड़ाता है। कामवासना की तृप्ति के लिए धर्मानुसार उसे स्त्री भी मिल जाती है। गृहस्थों के धन से मौज करते हुए ये हज़ारों लामें यदि अपने कर्तव्य का षोडशांश भी पालन करते तो आज यह दशा इन बौद्धों की क्यों होती? मुल्बे की तरफ़ गुन्पा (बौद्धमठ) गिर रही हैं, क्योंकि उनके अनुयायी कम होते चले जा रहे हैं। वह दिन बहुत नज़दीक है, जब कि मुल्बे और जांस्कार में भी एक गुन्पा और बौद्ध नहीं रह जायगा।

बौद्धों के ह्रास के और भी कारण हैं। एक तो बड़े भाई के अतिरिक्त दूसरों की शादी का अधिकार न होना। बाक़ी भाइयों की

भी उनकी भाभी ही स्त्री होती है। दूसरे, बाप की सम्पत्ति सिर्फ़ बड़े लड़के को मिलती है। इसकी वजह से भी अनेक छोटे भाई मुसलमान हो जाते हैं; क्योंकि मुसलमान होने पर उन्हें अलग स्त्री भी मिल जायगी और इधर-उधर से कुछ जायदाद भी पैदा कर सकता है। एक और भी बात है, जिससे इनकी जड़ कट रही है; ये पहाड़ी लोग राज-कर्मचारियों से बहुत डरते हैं। एक मामूली चपरासी भी उनके लिए लाट साहब से कम नहीं है।

इधर ४०-४० मील तक का एक ही पटवारी होता है। यदि कहीं पटवारी मुसलमान हुआ, चपरासी और सिपाही भी मुसलमान; पेशकार और सरिश्तेदार भी मुसलमान और कोई तहसीलदार (जिसे कि द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट का अधिकार है) मुसलमान हो; साथ ही बड़ा हिन्दू अफ़सर यदि हिन्दू हो, किन्तु मुसलमानों से डरनेवाला अथवा अपने मुसलमान निम्न कर्मचारियों के वश में हो, तो आप ही सोचें इन सीधे-सादे बौद्धों पर क्या गुज़रती होगी। लद्दाख की अवस्था बिलकुल ऐसी ही है। हिन्दू-राज्य होने पर भी मुसलमान जायज़-नाजायज़ सभी तरीक़े से अपने पड़ोसियों को दबाते रहते हैं। बौद्ध बेचारे भोले-भाले हैं। उनकी कहीं पूछ-ताछ नहीं। उदाहरणार्थ श्रीनगर को ले लीजिए। वहाँ पर लद्दाख, यारकन्द आदि की तरफ़ से जानेवाले मुसलमान सौदागरों के लिए अच्छी दोमहली पक्की सराय है, किन्तु बौद्ध व्यापारी ईदगाह के मैदान में छोलदारी लगाकर रहते हैं। उस दिन सिन्धुतटवर्ती गर्कुन गाँव के कई ग्राम-वासियों ने पूछा—हमारा महाराजा मुसलमान हो गया है तो उसका मुसलमानी नाम क्या पड़ा है? हिन्दू नाम हरीसिंह तो हम जानते हैं। हमारे बहुत समझाने पर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ; क्योंकि उन्होंने अपने किसी विश्वसनीय मुसलमान के मुख से यह बात सुनी थी। वे यह बात भी कह रहे थे कि जब हमारा राजा मुसलमान हो गया है तब हमारा क्या?

१०—लाहुल

फोलङ्-डंडा, १५००० फ़ुट,
बड़ा लाचा के पास उत्तर,
सोमवार, २५—९—३३

प्रिय आनन्द जी,

१७ सितम्बर को मैं लेह से चला। ५०-६० खच्चरों का पूरा काफ़िला है। कुल्लू तक पहुँचने में चार जोतें हैं। पहले दो पारकर तीसरे को आज पार कर जाना था; किन्तु कल शाम से ही यहाँ वर्षा और ऊपर की ओर बर्फ़ पड़ने लगी। आधी रात से तो नीचे भी बर्फ़ बरस रही है। इस वक्त, साढ़े बारह बजे दिन को, जब यह चिट्ठी लिखने लगा हूँ तब सारे पहाड़ सफ़ेद बर्फ़ से ढँक गये हैं। बादल अब भी हैं। लोग कल चलने की आशा पर बैठे हैं; किन्तु यह तो अच्छे मौसिम पर निर्भर है। देखिए, कितने दिन यहाँ रहने पड़ते हैं। अब लेह से यात्रा शुरू करता हूँ।

पहले २० सितम्बर को चलने का निश्चय था; पीछे खच्चर-वालों ने जल्दी चलने के लिए कहना शुरू किया। आख़िरी दो काम रह गये थे—एक तिब्बती भाषा की चारों पुस्तकों का अन्तिम संशोधन और दूसरा "मज्झिम-निकाय" का हिन्दी-अनुवाद। तिब्बती पुस्तकें समाप्त हो गईं। १४ सितम्बर की रात को "मज्झिम-निकाय" भी समाप्त हो गया। यार-दोस्तों से मिलना-जुलना भी समाप्त हुआ। खच्चरवालों से यह ठहरा कि मैं १७ सितम्बर (रविवार) को सिन्धु-तट के दक्षिण-वाले कुछ मठों को देखता, सोमवार को सिन्धु के बायें तट पर अवस्थित मर्-चे-लङ् स्थान में उनसे मिलूँगा। रविवार को जम्मू के एक ब्राह्मण सज्जन के यहाँ श्राद्ध का भोजन करके लेह से निकला। आठ-दस मित्र पहुँचाने आये। पौने तीन मास रह जाने से स्वागत-शून्य लेह में भी ममता प्रतीत होने लगी। कितना ही स्वागत-शून्य

हो, तो भी दो-चार लद्दाखी बौद्ध और अधिकांश भारतीय प्रेम रखते थे। वीरी की डाली को काटकर ज़मीन में गाड़ दो, ज़रा-सी नमी की ज़रूरत है, फिर वह अपनी ही जड़ों को फेंककर भूमि से चिमटने लगती थी। चाहे वीरी इतनी न हो, किन्तु मेरा कुछ स्नेह तो अस्थायी रूप से इस भूमि से हो ही गया था। बाहर से निकलकर एक बार फिर लेह की ओर देखा और कहा—अब शायद ही मेरा तुम्हारा मिलन हो। दोस्तों से बिदाई ली। श्री जोज़फ़ गेर्ग्यन् से बिदाई लेते चित्त में विशेष उदासी आई। लद्दाख में ये ही एक सज्जन हैं, जो शुद्ध भोट-भाषा लिख सकते हैं। साठ वर्ष से ऊपर की अवस्था है। इन्होंने सारा जीवन भोट-साहित्य के अध्ययन में लगाया है। तरुणाई ही में ईसाई हो गये थे इसलिए आरम्भ में [illegible] ओर ध्यान नहीं गया। शुद्ध साहित्य की तो बहुत उत्तम योग्यता रखते हैं। मैंने भी कहा और उनको भी अफ़सोस है कि उनके बाद लद्दाख में वैसा विद्वान् कोई न रह जायगा। गेर्ग्यन् महाशय इतने बूढ़े हो गये हैं; किन्तु वे श्रीनगर से नीचे नहीं गये! रेल उन्होंने नहीं देखी! कहते हैं—"तसवीरों में देख ली है न!" इन वृद्ध सज्जन का दर्शन फिर कभी शायद ही हो; इसलिए अधिक अफ़सोस हुआ। हम दोनों समानधर्मा थे; अतएव हममें घनिष्ठता का होना स्वाभाविक था।

लद्दाख के बौद्धों में जिससे अधिक आशा हो सकती है, वह नौजवान नोनो छे-र्तन-फुन्-छोग् है। भोट-भाषा अच्छी तरह लिखता है। नोनो को भी मर्-चे-लङ् तक चलना था। १ बजे हम दोनों घोड़ों पर निकले। लेह से छः मील पर लद्दाख की पुरानी राजधानी शेह है। अब भी यहाँ राजप्रासाद है। १५वीं शताब्दी में जब राजधानी सिन्धु-तट से हटकर लेह में गई, तब भी इस स्थान की प्रतिष्ठा बिलकुल लुप्त नहीं हो गई। राजकुमारों के जन्म के लिए अन्तिम दिनों तक शेह का मुखर् (महल) ही बहुत मंगलप्रद समझा जाता रहा। महल का बहुत-सा भाग नष्ट हो गया है, जिसकी दीवारें अब भी

खड़ीं हैं। पास के देवालय में बीस-पचीस हाथ ऊँची बुद्ध की एक आसीन मूर्ति है। मूर्ति के सिर के दर्शन के लिए ऊपरी तल पर जाना होता है। ऊपरी तल की दीवारों में कभी सुन्दर चित्र थे; किन्तु अब धुएँ से काले हो जाने से बहुत मुश्किल से दिखाई पड़ते हैं। सामने कुछ मिट्टी-पीतल की मूर्तियाँ भी रक्खी हैं। निचले तल में, सामने, बड़ी शाला है, जिसमें सुकन्-ग्युर की पुस्तकें रक्खी हुई हैं। ६ वर्ष पूर्व जब मैं यहाँ आया था, तब दो-तीन मन पुस्तकों के बिखरे पन्ने यहाँ देखे थे; अब देखा, तो कुछ थोड़े ही पन्ने रह गये हैं। मालूम हुआ, आनेवाले दो-दो, चार-चार पन्ने लेते गये। इस प्रकार वह ढेर तबर्रुक में चला गया। जिस कश्मीर-राज्य में १३०० वर्ष के पुराने गिल्गित के हस्त-लिखित ग्रन्थ तबर्रुक में बाँटे जा सकते हैं, वहाँ यह कौन-सी बड़ी बात है!

गाँव के भीतर एक और ल्ह-खँङ् (देवालय) है। मालूम हुआ, वहाँ ञार्मा के पुरातन मठ की कुछ मूर्तियाँ हैं। इस देवालय का पुजारी ल्ह-प है। ल्ह-प उसे कहते हैं, जिसके ऊपर देवता आता है। वर्तमान ल्ह-प एक चौबीस-पचीस वर्ष का जवान है। एक छोटे मन्दिर में बेल-बूटों पर बनी वे मूर्तियाँ हैं। सभी देवालय श्री-हीन-से हैं। गाँव में भी बहुत खँडहर हैं। कहते हैं, जब लद्दाख स्वतन्त्र था, तब अधिकांश मकान राजमहल के पास होते थे।

वहाँ से शे-लोन्-पो के घर गया। लोन्-पो ऊँचे राजकर्मचारी को कहते हैं। यह खान्दान पहले ऐसे ही पद पर प्रतिष्ठित था; इसलिए अब तक वही नाम चला आता है। वर्तमान लोन्-पो गाँव का नम्बर-दार मात्र है। एक ही पुत्र है, जो अँगरेज़ी-मिडिल पास कर ट्रेनिंग में पढ़ रहा है। चाय पीने के बाद, पाँच बजे शाम को, ठिक्से के लिए रवाना हुआ। खेत बहुत कुछ कट गये हैं। काटने-ढोनेवाले स्त्री-पुरुष मेहनत को हलकी करने के लिए स्वर में स्वर मिलाकर बारी-बारी से कुछ गाते जा रहे हैं। कोइलों के स्वदेशी इन स्त्री-पुरुषों के

कण्ठों में भी कुछ असर है। लद्दाख के अन्य पर्वतों की भाँति ये पर्वत भी नंगे हैं। वीरी और सफ़ेदे (जिनके कारण कुछ हरियाली मालूम होती थी) के भी पत्ते अब पीले पड़ते जा रहे हैं। बीस-पचीस दिन में वे सूखे वृक्ष-से हो जायँगे; फिर आँखें हरियाली देखने को तर्सा करेंगी।

ठिक्से को दो ही मील चलना था। हम लोगों के घोड़े भी तेज़ थे; इसलिए पहुँचते देर न लगी। लद्दाख में पि-तोक्, ठिक्-से, रिजोङ् और लि-किर ये प्रधान गे-लुक-पा (पीली टोपीवाले) मठ हैं। लि-किर का कोई अपना अवतारी लामा नहीं है। यह मठ ग्यारहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ था। बाक़ी तीनों मठों के अधिपति अवतारी लामा होते हैं, जिन्हें लद्दाख में कुशोक् कहते हैं। पितोक् का कुशोक् १५-१६ वर्ष का बालक है और आजकल ल्हासा में पढ़ रहा है। रि-जोङ् का कुशोक् तो ३-४ वर्ष का बच्चा है। ठिक्-से के वर्त्तमान कुशोक् की जीवनी नाना चित्र-विचित्र घटनाओं से परिपूर्ण है। उसका बाप ल्हासा का एक बड़ा राज-कर्मचारी है। अकेला पुत्र होने पर भी मठ के अधिकार के लोभ से या अवतार-वाद के माया-जाल में पड़कर बाप ने लड़के को कुशोक् बनने के लिए दे दिया। लड़कपन तो जैसे-तैसे कुछ पढ़ते, कुछ खेलते बीता। जब यौवन में प्रवेश हुआ, तब उसे अपने पर क़ाबू रखना भारी हो गया। पहले छिप-छिप कर स्त्री और शराब का दौर चलता था, पीछे खुल कर। साथ ही सिगरेट भी पीने लगा, जिसका पीना भोट-देशीय उन लामाओं के लिए अक्षम्य अपराध समझा जाता है जो दिन-रात छङ् (शराब) में ग़र्क़ रहते हैं। मठ के भिक्षुओं और गृहस्थों को बुरा लगने लगा; किन्तु करते क्या, वह तो एक पुरातन सिद्ध पुरुष का अवतार था! धीरे-धीरे उसने मठ की चीज़ें बेचनी शुरू कीं। मारपीट हुई, मुक़दमा हुआ। अन्त में उसे लद्दाख छोड़ देना पड़ा। मैं जब १९२९ ई० में ल्हासा में था तब वह वहाँ ल्हासा

के पुलिस अफ़सरों में से एक था। बात-चीत में बेवक़ूफ़ नहीं मालूम पड़ता था। मेरे चले आने के बाद एक ऐसी घटना घटी, जिससे वह जीवन के निम्नतम तल में ढकेल दिया गया। उसका थाना ल्हासा के उस छोर पर था, जिधर से-रा मठ की ओर का रास्ता जाता है। और मठों की भाँति से-रा के पाँच-छः हज़ार भिक्षुओं में थोड़े से ही पढ़ने-लिखनेवाले हैं; कुछ जैसे-तैसे कालक्षेप करनेवाले हैं और बाक़ी तो दुनिया की सारी बुराइयों में लिप्त हैं। कितनी ही बार से-रा के ढावे (भिक्षु) ल्हासा से शराब पीकर ऊधम मचाते उस थाने के द्वार से गुज़रते थे। कभी-कभी वे थाने पर पत्थर भी फेंक देते थे। अफ़सर ने कई बार मना किया। मैं जब ल्हासा में था, तभी ठिक्-से कुशोक् ने कहा था—ये ढावे बहुत ऊधम मचाते हैं। किसी दिन इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। ३-४ वर्ष हुए, जब एक दिन अफ़सर के हुक्म से सिपाहियों ने शराब में मस्त ऊधम मचानेवाले दो ढावों को गोली से मार दिया। जैसे ही यह ख़बर से-रा गई, वहाँ से हज़ारों की तादाद में ढावा-फ़ौज ठिक्-से से बदला लेने के लिए तैयार हुई। इसी बीच यह ख़बर दलाई लामा तक पहुँची। उन्होंने ठिक्-से और उसके कई आदमियों को पकड़वाकर अपने बग़ीचे (नोर्बू-लिङ्-का) में बन्द कर दिया। से-रा के ढावों को बहुत मुश्किल से शान्त किया गया। ठिक्-से पर महीनों बेंत पड़ते रहे। फिर दो वर्ष तक नव वर्ष के उत्सव के दिनों में पिंजड़े में बन्द करके उसे ल्हासा की गलियों में घुमाया जाता रहा। अब गले में लकड़ी के तख़्ते के साथ से-रा मठ के एक प्रभावशाली आदमी की ज़मानत पर छोड़ दिया गया है।

ठिक्-से मठ में काफ़ी ज़मीन है। कई छोटे-छोटे शाखा-मठ हैं। सौ के क़रीब भिक्षु रहते हैं। मठ में कई देवालय हैं। दो विशाल संघ-सम्मेलनागार हैं। प्रधान मन्दिर में लकड़ी के सुन्दर प्रभा-मण्डल में बीच में, स्तम्भ के ऊपर, एक सुन्दर बुद्ध-प्रतिमा है। इसकी कारीगरी

बतला रही है कि यह बहुत पुरानी और शायद भारतीय कारीगर के हाथ की बनी है। मूर्ति से भी विशेष महत्त्व का है प्रभामण्डल। पूछने पर मालूम हुआ, पड़ोस का एक प्रभावशाली बौद्ध-घर (खङ्-ग्सर) मुसलमान हो गया। उसी घर से यह मूर्ति मिली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस घर के लोग भलेमानुस थे, अन्यथा कुफ़ की इस निशानी को नेस्त-नाबूद कर डालने का उन्हें पूरा अधिकार था।

मठ को देखकर हम लोग पहाड़ी से नीचे उतरे और लब्रङ् या आगन्तुक-आवास की एक अच्छी कोठरी में हमारा आसन लगा। इस वक्त भी मठ के अधिकारियों में आपस में झगड़ा चल रहा है। कुशोक् की बात चलने पर मैंने कहा—अब अवतार को तिलांजलि दो। पाँच समझदार लड़कों को अच्छी तरह पढ़ाओ—जो अधिक योग्य होगा, वही कुशोक् होगा। "हाँ"! तो कहा; किन्तु इस "हाँ" पर अमल होगा, इसका मुझे ज़रा भी विश्वास नहीं!

बिस्तरा ले चलने के लिए हमें एक आदमी की ज़रूरत थी। दूसरे दिन आदमी के इन्तज़ार में ही १० बज गये। अन्त में आदमी के साथ सामान भेजने की ताकीदकर हम दोनों ञर्-मा को चल पड़े। यह स्थान ठिक्-से से दो ही मील पर पहाड़ की जड़ में है। किसी समय यहाँ विशाल मठ था, जिसमें हज़ारों नहीं तो सैकड़ों भिक्षु अवश्य रहा करते थे। मठ का संस्थापक महान् लो-च-व-रिन-छेन् ब्सङ्-पो (मृत्यु १०५५ ई०) था। भोट के प्राचीन मठों की भाँति यह संघाराम भी पहाड़ की टेकरी पर टँगा न होकर मैदान में है। चारों ओर चहारदीवारी थी, जिसके कुछ भाग अब भी मौजूद हैं। बीच में अनेक देवालय, स्तूप और भिक्षु-आवास थे, जिनमें स्तूपों के अतिरिक्त कितने ही पुराने देवालयों की विशाल दीवारें अब भी खड़ी हैं। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में बस्कर्-दो (बलतिस्तान) के अली मीर ने लद्दाख पर हमला कर वहाँ के सभी मन्दिरों, मठों तथा पुस्तकागारों को जलाया और ध्वस्त किया था। उसी समय,

मालूम होता है, यह संघाराम भी ध्वस्त किया गया। एक नया मन्दिर मौजूद है। पुजारी ठिक्-से का एक भिक्षु ही है। हमें निश्चित तौर से बतलाया गया था कि पुजारी वहाँ पहुँचा रहेगा। ढाई घंटे तक घूम-घूम कर हम ञ्यर्-मा के भव्य ध्वंसावशेषों को देखते रहे; किन्तु पुजारी का पता नहीं! पीछेवाले मठों से इसका ढंग ही दूसरा है। इस मृत-विहार से भी प्राचीन भारतीय विहारों की श्वास-गन्ध आ रही है। गेर्ग्यन महाशय ने बतलाया था कि ञ्यर्-मा के कुछ स्तूपों के भीतर प्राचीन चित्र हैं। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हमने एक स्तूप में छोटा-सा द्वार देखा। रेंग कर भीतर गये; भीतर का दृश्य देखते ही रोंगटे खड़े हो गये! आठ सौ वर्ष पुराने इन चित्रों के मुखों और अंगों को पत्थरों से कूच-कूच कर बिगाड़ा गया है। मालूम हुआ, आस-पास के अधिकांश लोग मुसलमान हो गये हैं। उन्हीं का यह काम है। ऊपरवाला गुंबज भी फूट गया है, जिससे पानी नीचे आता है। उस अँधेरे स्तूप-गर्भ में कुछ ऊपर और कुछ द्वार से प्रकाश आ रहा था। तसवीरों के दो-तीन फ़ोटो लिये। आये या नहीं, यह तो फ़िल्म धोने पर मालूम होगा। ग़ौर से देखने पर एक चित्र के नीचे लिखा पाया—"मर्-मे-म्ज़द्-ल-न-मो" (दीपङ्कराय नमः)। यह दीपङ्कर श्री-ज्ञान का चित्र था; लेकिन इसका सिर नदारद! आस-पास के चित्रों की दशा देखकर निश्चित ही था कि इसका बचा-बचाया अंग अधिक समय तक क़ायम न रहेगा। नोनो ने बड़े परिश्रम से उतने प्लास्तर को दीवार से निकाला। उसे केमरा के बक्स को ख़ाली करके एक लकड़ी और ऊन के सहारे रक्खा। वहीं संस्कृत में लिखी एक मुहर मिली, जिसमें १२ पंक्तियाँ हैं। तलाश करने पर एक छोटा स्तूप ही इन मुहरों का मिला; किन्तु यह स्तूप भी फट गया है और पानी ने भीतर पहुँचकर कच्ची मिट्टी की अधिकांश मुहरों को ख़राब कर दिया है। ख़ैर, हमने छः मुहरें भी लीं और उन्हें यत्न से ऊन में लपेट कर रख दिया। कल सात दिन बाद

देखा तो मालूम हुआ कि, अक्षर घिस रहे हैं। कल दो को आग में पका लिया। अब ये दो सुरक्षित हैं। चित्र को खोलने की हिम्मत नहीं हुई। एक ही बार खोलेंगे, जिसमें शोक या हर्ष एक ही बार हो! ञर्-मा में और भी कुछ पुरातन चीज़ें मिल सकती हैं। कश्मीर-राज्य इन अनमोल धरोहरों की अवहेलना कर अक्षम्य अपराध कर रहा है।

दो बजे के क़रीब हम दोनों फिर घोड़े पर सवार हुए। थोड़ी ही देर में रणवीरपुरा पहुँच गये। ६०-७० वर्ष के भीतर ही भीतर ये सारी बस्तियाँ मुसलमानों की हो गई हैं! रणवीरपुरा सिन्धु के दक्षिण भाग में दूर तक चला गया है। रणवीरपुरा के बाद दो घरों का टोला और नदीपार टेकरी पर स्तग्-ना मठ है; फिर उज़ाड़ स्थान! ठिक्-से से कोई १३ मील चल कर हेमिस गुन्पा के सामने सिन्धु के पुल पर पहुँचे। पुल लकड़ी का है। एक बार एक ही घोड़ा पार कराया जा सकता है। बारी-बारी से हम लोग पार हुए। फिर लद्दाख-कुल्लू के रास्ते पर पहुँच गये। कुछ वीरी के लगाये जंगल और माणी तथा स्तूपों के बाद एक छोटा नाला आया। फिर मर्-चे-लङ् गाँव। नोनो अपने परिचित गृहस्थ के घर पर गये। भेड़ों-गदहों की बदबू के मारे बाहर ही ल्ह-व (देवतावाली) वीरी के नीचे बैठना पड़ा। देखा, वीरी में हज़ारों बनारसी बेरों के बराबर गोल-गोल फल-से लगे हुए हैं। ध्यान से देखा तब मालूम हुआ कि ये फल ढेप में न लगकर पत्तों में लगे हैं। लोगों ने बतलाया कि ये फल नहीं हैं, बल्कि पत्ते पर किसी कीड़े के बैठने से उसके इर्द-गिर्द फल-सा बन जाता है। पीछे कीड़ा रेशम की तरह फल को काट कर बाहर निकल आता है। गृह-पत्नी ने कहा—ये देवतावाली वीरी ही पर अधिक होते हैं। लेकिन इसका कारण है, वीरी की शाखों का पुराना होना, जो देवतावाली वीरी में ही हो सकता है; और वीरियों की शाखायें तो हर दूसरे-तीसरे वर्ष काट दी जाती हैं।

इन्तज़ार करते-करते ६।। बजे एक खच्चरवाला आया। पूछने पर मालूम हुआ, हमारे खच्चरवाले शायद आज न आवेंगे। बेचारे नोनो को यहाँ से लेह लौटना था। आज बादल घिर आया था। शाम को बूँदें भी पड़ने लगीं। अँधेरा होने से पूर्व ही सुक्खूराम की पार्टी भी पहुँच गई। कटे खेत में माल के बोझों की दीवार बनाकर पाल का तम्बू तान दिया गया। इसी ख़ीमे में बिस्तरा एक ओर लग गया। कपड़े की कन्दील में मोमबत्ती बाल दी गई। बिस्तरे पर घर-सा मालूम होने लगा। यद्यपि बूँदें रात भर पड़ती रहीं; किन्तु लद्दाख की वर्षा के जानकार इन रिम-झिम्-रिम्-झिम् फुहारों की कुछ परवा नहीं करते।

सबेरे हाथ-मुँह धोकर रोटी और गोभी की भाजी का नाश्ता हुआ। नोनो भोटिया चाय बनवा कर लाये। ६।। बजे नोनो उधर लेह की ओर लौटे और हमारा काफ़िला कुल्लू की तरफ़ चला। हमारा मार्ग सिन्धु के बायें किनारे से ऊपर की ओर को था। १० मील चलने पर उप्-शि (११६०० फ़ुट) का छोटा गाँव मिला। यहाँ मुसाफ़िरों के ठहरने के लिए सराय भी है; किन्तु खच्चरवाले सराय की परवा नहीं करते। उप्-शि से हमें सिन्धु को छोड़ देना पड़ा। अब रास्ता ग्यं-नदी के बायें किनारे से ऊपर को था। १४२ मील के रास्ते के लिए कश्मीर-दरबार हर साल ५०० रुपये की भारी रक़म मंज़ूर करता है! इसमें आधी से कम में ठीकेदार का पेट कैसे भर सकता है! ग्यं तक हर साल कोई अफ़सर आ जाता है; इसलिए वहाँ तक तो कुछ मरम्मत हो भी जाती है, आगे कहीं-कहीं पत्थर ज़रा टेढ़े-सीधे कर दिये जाते हैं!

आज चलते वक़्त सलाह होने लगी, मेरा मध्याह्न भोजन कैसे हो। मैंने कहा—१० बजे से पूर्व तो आप लोग रवाना हो नहीं सकते, यदि मेरे भोजन के लिए रास्ते में खड़ा होना पड़ा, तो मंज़िल पूरी न होगी। कुछ देशी बिस्कुट (कुल्चा), मुर्ग़ी के दो "परम सात्त्विक" अंडे (पीछे मैंने यह संख्या चार कर दी) तथा दो लद्दाखी सेब और

थोड़ा जल चलते-चलते दे देना। बस! गुजारा कर लूँगा। आज तक मध्याह्न में इसी प्रकार गुज़ारा करता चला आया था; किन्तु आज अंडे समाप्त हो गये!

उप्-शि से ६ मील चलकर हम मि-रु पहुँचे। गाँव के पास पहुँचते-पहुँचते बूँदें पड़ने लगीं। गाँव के पास कटे खेतों की मिट्टी भी पिलपिली हो गई थी; इसलिए ख़च्चरवालों को एक बाहर निकली विशाल चट्टानों का सहारा लेना पड़ा। इस गाँव के विषय में कहावत है—"मूखर्-लस् सृङ-व ख-ल-र्चे। युल्-लस् सृङ-व मि-रु-च।" (महलों में पहला ख-ल-र्चे का महल है और गाँवों में पुराना मि-रु-र्चे है)। इस कहानी की सत्यता गाँव के जीर्ण-शीर्ण मार्गों और खँडहरों से भी प्रमाणित होती है। गाँव के बाहर ही बुशहरी ओर्ग्यन् (या रामदयाल) का घर था—झोपड़ा नहीं कह सकते; क्योंकि फूस का नाम नहीं। यह तो पत्थरों के ढेर का छोटा सा घरोंदा था। ये अपने गेहूँ और ग्रिम काटने में लगे हुए थे। देखते ही आये। इनसे पिछली यात्रा में तथा अब की यात्रा में हेमिस् मेले में मुलाक़ात हुई थी। बेचारे एक लद्दाखी लड़की से ब्याह कर "घर-जमाई" बनकर यहीं बैठे हैं। एक बेटा था, जो तीन-चार वर्ष का होकर मर गया। अब दोनों प्राणी सन्तान के बड़े इच्छुक हैं। कहीं ऐसा न हो कि यह महल सूना हो जाय! हेमिस् में भी बहुत तक़ाज़ा था—गुरु जी! हमको एक "जंतर" दें। उस वक़्त किसी तरह बच गये थे। अब रास्ता छोड़कर कहाँ जाते? शाम को कुछ अंडे और ग्रिम (नंगे जौ) के होले को लेकर आये; फिर जंतर का तक़ाजा। अन्त में मैंने कहा—थोड़ा हाथ का बना काग़ज़ लाओ। काग़ज़ लाकर उन्होंने कहा—"मेरी स्त्री को गुस्सा बहुत हो जाया करता है, वह खेत में किसी की बकरी-भेड़ चले जाने पर झगड़ा करने लगती है। गुरु महाराज! मेहरबानी करें, एक उसके लिए भी जंतर दें।" मैंने उनसे कल का वादा कर दो टुकड़ों पर जंतर लिखा। पुत्र देनेवाले जंतर पर लिखे

वर्णमाला के कुछ अक्षर और मन्त्र कुछ नहीं! गुस्सा शान्त करने-वाले जंतर पर तो ब्राह्मी अक्षर में सिर्फ़ इतना ही लिखा—"मन्त्र कुछ नहीं।" रामदयाल ने खच्चरवालों के दाने-चारे की ख़रीद में बड़ी मदद की। सबेरे मैंने उन्हें दोनों जंतर दिये और साथ ही संयम की कुछ बातें भी बतलाईं। दोनों ही दम्पती वृद्ध नहीं हैं; यदि सन्तान हो गई तो इस जंतर की महिमा ही समझी जायगी! कल शाम को तो मैं होला खा नहीं सकता था। आज सबेरे एक गिलास भर कर ताज़ा होला आया। ख़ूब डट कर नाश्ता हुआ। यद्यपि सबेरे बूँदें बन्द हो गईं; किन्तु खच्चरवाले बादशाह जो ठहरे! चिलम भरी और पी जाने लगी, रोटी बनने लगी। गप-शप भी होने लगी। धीरे-धीरे खच्चरों के ओढ़ने को हटाकर पीठ झाड़ी जाने लगी, फिर रीढ़-रक्षक कपड़े के दो लम्बे मुट्ठों को रक्खा गया। फिर ओढ़ना और ऊपर से बड़ी बींड़ को रखकर आगे-पीछे और पेट पर बाँधा जाने लगा। हर एक खच्चर के साथ यही कार्रवाई। बीच-बीच में नई चिलम भी हुक्क़े की कली पर रक्खी जा रही थी। जब साढ़े ग्यारह बज गया तब मैंने कहा—भोजन लाओ। यहीं निबट लूँ।

२० सितम्बर को १२॥ बजे हमारा क़ाफ़िला रवाना हुआ। थोड़ी दूर चलने पर नदी की उपत्यका कुछ चौड़ी होने लगी। रास्ते में दो घर मिले, जहाँ आख़िरी बीरी और सफ़ेदे देखे। ७-८ मील चलने पर ग्यें ग्राम के खेत और घर आने लगे। यह एक ही गाँव दूर तक फैला है। ग्यें गाँव समुद्र-तल से १३५०० फ़ुट ऊपर बसा हुआ है; इसी लिए वृक्षों का नाम नहीं। हाँ, ग्रिम के बहुत खेत हैं। जगह-जगह सफ़ेदी किये स्तूप और माणियाँ हैं (ओं मणिपद्मे हूँ आदि मन्त्रों को पत्थर पर खोदकर चौड़ी दीवारों पर रख देते हैं, यही माणियाँ हैं) जिनको प्रदक्षिणा करते चलना श्रद्धालु यात्री अपना धर्म समझते हैं। ग्यें गाँव में भी एक राजकीय सराय और यात्रियों को

दाम से देने के लिए अनाज की कोठी है। मि-रु की भाँति यहाँ भी हेमिस्-गुन्पा का ल-ब्रङ् (आवास) है। विक्रमशिला का भूतपूर्व विद्यार्थी और आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान का शिष्य ग्यं-चोन्-ड्रू-सेङ्-गे (ग्यंवाला वीर्यसिंह) यहीं का रहनेवाला था, जो अपने गुरु के साथ भोट जाते समय नेपाल की सीमा के पास मर गया था, जिसका आचार्य को बहुत खेद हुआ था। प्रधान गाँव से एक मील पर, कुछ ऊँची समतल भूमि पर, कितने ही पुराने स्तूप हैं। इसी तरह कुछ ऊपर नदी की दाहिनी ओर भी कुछ पुरातन स्तूप हैं। प्रायः तीन मील ऊपर चलने पर नदी के बाये, रास्ते से थोड़ा ऊपर, एक पुराने संघाराम का ध्वंसावशेष है, जिसके सैकड़ों स्तूपों को जोड़ कर बनाई दीवार का कितना ही भाग तथा बीच में कितने ही स्तूप अब भी टूटी-फूटी अवस्था में खड़े हैं। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के पूर्व भोट देश के प्रायः सभी विहार समतल भूमि पर चहारदीवारी से घिरे होते थे।

दो मील से कुछ अधिक दूर नदी के दाहने तट के नाले में, ति-रि है, जहाँ के स्तूप के बारे में कहा जाता है कि यह सम्राट् अशोक के बनवाये चौरासी हज़ार स्तूपों में से एक है। अब उपत्यका और चौड़ी हो गई थी। लद्दाख का आख़िरी गाँव हमने पार कर लिया। पहाड़ छोटे-छोटे थे। इन पहाड़ों पर पत्थरों की अपेक्षा मिट्टी ही अधिक है। संध्या-समय हम अपने ठहरने के स्थान पर पहुँचे। यह स्थान स्तग्-लुङ्-ला से ४-५ मील नीचे है। हमारे साथी होशियारपुरी कुम्हार इसे कोठला कहते हैं; किन्तु इनके नाम की बात छोड़ो। ये तो सभी नामों का तोड़-मरोड़ करते हैं। मर्-चे-लङ् इनका मिर्चा-लङ् है; क्योंकि मिर्चा उनके लिए कुछ अर्थ रखता है। इसी प्रकार ला-चा-लुङ् इनका लौंग-लाचा है। आगे बड़ा लाचा है ही! इस प्रकार लौंग, छोटी इलायची, बड़ी इलायची! इनका सारा मसाला हो गया! हसब्-दस्तूर तम्बू के भीतर मेरा

आसन लग गया। रास्ते का थका भी था, रोशनी भी काफ़ी न थी; इसलिए मैं तो सो गया। सर्दी का क्या पूछना? दो ऊनी बनियायनें, एक ऊनी बनियानी सुत्थन, मोटा मोज़ा, फिर दोहरी पश्मीने की चद्दर, फिर कश्मीरी लोई, तब दस सेर का चमरी के पशम का कम्बल जङ्-गोस, ऊपर से फिर दोहरी लोई! इस पर भी सर्दी की शिकायत करना ओढ़ने के साथ अन्याय करना होगा। २१ सितम्बर को सबेरे उठा। पानी हाथ को काट रहा था। मुश्किल से हाथ-मुँह धोये। ६ बजे नाश्ता मिल गया। फिर धीरे-धीरे खच्चरों की तैयारी होने लगी। सवा ग्यारह बजे काफ़िले ने डेरा छोड़ा। आज स्तग्-लङ्-ला (१७५०० फ़ुट) को पार करना था। लद्दाखी होते तो सूर्योदय के साथ-साथ ला की चढ़ाई शुरू करते। दो-ढाई मील तो रास्ता ज़रा-ज़रा ऊपर को जा रहा था। फिर चढ़ाई शुरू हुई। आदमी और जानवर सभी दस-दस क़दम पर, लम्बी साँसें लेने के लिए, रुक जाते थे। एक आदमी ने पूछा, स्वामी जी! तकलीफ़ तो नहीं है? कहा—"दूसरे की पीठ पर हैं भाई!" ऊपरी हिस्से पर थोड़ी-थोड़ी बर्फ़ थी। शिखर पर पहुँचे। खच्चरवालों के दम में दम आया—कोई जानवर नहीं रह गया। शिखर से दूर दक्षिण-पूर्व छो-मो-रि-रि का महान् क्षार-सरोवर दिखाई पड़ा। फिर उतराई आरम्भ हुई। उतराई दो मील से अधिक नहीं थी। नीचे देब्-रिङ् (बड़ा मैदान) है। एक मैदान ख़तम कर बाँई ओर मुड़े। फिर दूसरा मैदान शुरू हुआ। इन मैदानों का पानी न किसी नदी में जाता है, न किसी सरोवर में; भूमि में सूख जाता है। इस साल लद्दाख में असाधारण वर्षा हुई, जिससे इन मैदानों में घास कुछ अधिक उग आई है। एक जगह कुछ क्याङ् खड़े थे। एक लद्दाखी मुझसे बतला रहा था—ये खच्चर हैं। खच्चर की भला कोई आगे सन्तान चलती है? हुशियारपुरी कहने लगे—घोड़े हैं। मैंने कहा—और पूँछ तो गदहे सी है? वस्तुतः यह एक किस्म का गदहा ही है; यद्यपि क़द में

बड़ा होता है। १५००० फ़ुट से ऊपर रुम्प-शू के इन मैदानों में अकसर ये क्याङ् चरते पाये जाते है। सूर्यास्त के समय हम रोक्-छेन् में पहुँचे। तम्बू में रहनेवाले चङ्-पों का आजकल यहाँ एक छोटा-सा गाँव बस जाता है। नदी के बायें किनारे काफ़िले का डेरा पड़ा। रात को खच्चर ऊपरी हिस्से पर चरने के लिए छोड़ दिये गये।

२२ सितम्बर के सबेरे उठे। यहाँ भी सर्दी कम न थी। खा-पीकर ११ बजे आज चलना हुआ। कल तक कुल्लू और ल्हासा के रास्ते एक थे, कल शाम को ही दोनों रास्ते अलग-अलग हो गये। आज १२ मील तक रास्ता मैदान-ही-मैदान था! कहीं-कहीं कुछ क्याङ् चरते दिखाई पड़ते थे, जो आदमियों को देख कान खड़ा कर खड़े हो जाते थे। कहीं-कहीं बिलों पर बैठे हिमालयी चूहे (साथी लोग उन्हें चूहा ही कहने की ज़िद कर रहे हैं, नहीं तो इनकी शकल ऊद-बिलाव से बहुत मिलती है और उससे बड़े भी हैं) अजनबियों को ग़ौर से देखते, फिर छिप जाते थे। वनस्पतियों में कहीं-कहीं कुछ घास और कहीं सिर्फ़ ज़मीन से चिपटी कँटीली झाड़ी थी, जिसमें से कुछ पर पीली काई सा कुकुरमुत्ता दिखाई पड़ता था। आज मैंने अपना घोड़ा आगे कर लिया था।

मैदान के अन्त में एक लड़का बहुत-सी भेड़ों को हाँकते ले जाता मिला। पूछने पर बतलाया, गरजा (लाहुल) को जा रहा है। मैदान के अन्त में एक मील की खड़ी उतराई आई। मैं घोड़े से उतरकर पैदल चलने लगा; लेकिन मेरे पैर में नम्दे के मोज़े पर यारकन्दी चुरोक् था, जिससे पैर फिसलता था। किसी प्रकार नीचे नदी के तट पर पहुँचा। यह पङ्-स्थान १५२०० फ़ुट ऊँचा है। कुछ देर इन्तज़ार करने पर साथी आ गये। यद्यपि १७ मील चल चुके थे, तो भी अभी कुछ और आगे चलने की सलाह हुई। इस धार को पार कर एक और धार को पार हो, तीसरी धार के किनारे-किनारे ला-चा-लुङ् जोत् की ओर हम अग्रसर हुए। ये तीनों

धारें पास ही पास मिलती हैं। और आगे जाकर नदी से मिल कर लेह से १८ मील नीचे नीमू के सामने सिन्धु से मिल जाती हैं। ३ मील चलते-चलते सलाह हुई ठहरने की। ला-चा-लुङ् नदी के बाँयें तट पर डेरा पड़ा।

२३ सितम्बर के सबेरे उठे तब देखा कि, नदी की धार के किनारे-किनारे जमी बर्फ़ की मग़जी (रसा) लगी हुई है। आज साथियों ने बड़ी फ़ुर्ती की। मंज़िल भारी थी; इसलिए सात बजे सबेरे ही चल पड़े। सात बजे अपनी घड़ी से कहता हूँ। फ़्रांक-फुर्त की २८, मार्क्स की ख़रीदी घड़ी वैसे तो बराबर चलती है; हाँ सर्दी-गर्मी में कुछ तेज़-मन्द हो जाती है। लेह में एक दिन शीशा टूट गया। एक रुपया ले घिस-घुस कर एक निठल्ले घड़ीसाज़ ने शीशा लगा दिया, साथ ही भीतर एक बाल भी डाल दिया। बाल और ऊन तो लद्दाख में सर्वव्यापक चीज़ें हैं। खाने में नमक की तरह वे सर्वत्र रहते हैं। ब्रह्मचारी गोविन्द ने एक रुपये का मक्खन ख़रीदा, पीछे देखकर कहने लगे—रुपया मक्खन का लिया या ऊन का? अस्तु। वह एक बाल इधर समय-समय पर घड़ी की सुई से लिपट जाता है, फिर घड़ी घंटों बन्द रहती है। फिर सुई को ऐंठने पर फन्दा छुटता है। तब अटकल से समय बनाया जाता है। उस दिन भी लद्दाखी ऊन ने घड़ी को रोक रक्खा था। ख़ैर। सात बजे सबेरे हम रवाना हुए। पहले चढ़ाई "मीठी" (हमारे साथी आसान चढ़ाई को इसी नाम से पुकारते हैं) थी। एक जगह कुछ फ़र्लांगों की कौड़ी (कड़वी) चढ़ाई आई। अब जोत तक चढ़ाई "मीठी" ही थी; किन्तु ल-च-लुङ् जोत १६६०० फ़ुट ऊँचा है। हवा के पतली होने से शरीर हिलाने में भी थकावट मालूम होती है। भोटिया लोग इसका कारण बतलाते हैं ज़हरीली मिट्टी; भारतीय लोग सारा दोष ज़हरीली बूटी के मत्थे मढ़ते हैं। हमारे साथी स्तग्-लुङ् पर गन्धक अधिक होने की शिकायत कर रहे थे। उँचाई का हिसाब वह आस-

पास की भूमि से लेते हैं। इसी लिए कह रहे थे, ला-चा-लुङ् स्तग्-लङ् से बहुत ऊँचा है। फिर स्तग्-लङ् पर अधिक दम क्यों चढ़ता है? समुद्र-तल से उँचाई समझाना टेढ़ी खीर है। आज घोड़े पर ही चार अंडों और दो सेबों का फलाहार हुआ। इधर मध्याह्न को बस फलाहार का ही नियम-सा कर लिया है। जब दूध फलाहार में है तब अंडा क्यों नहीं, जिसके लिए न फूँका किया जाता है, न बछड़ा मारा जाता है? राम-राम करके जोत के शिखर पर पहुँचे। दो जानवरों ने कुछ कमज़ोरी दिखलाई ज़रूर; किन्तु यहाँ किसी जानवर की बलि नहीं हुई। स्तग्-लुङ् में एक पचीस रुपये के गदहे को दम लग गया और रोग्-छेन् से आगे उसे छोड़ देना पड़ा। उस बयावान में आते-जाते किसी चङ्-पा की दृष्टि पड़ गई तो वह ले गया होगा, अन्यथा रात को वह भेड़ियों का लुकमा बना होगा।

उतराई पहले साधारण थी, फिर थोड़ी-सी चढ़ाई। फिर तीन साढ़े तीन मील की मीठी उतराई, फिर १-१॥ मील की खूब कड़ी उतराई। अब, हमारा मार्ग चे-रब् नदी के दाहने किनारे से था। हमारे साथी तो क़सम खाने के लिए तैयार थे कि यह दरिया कार्गिल को जाता है, जहाँ से द्रासवाली नदी से मिलकर सिन्धु में। किन्तु नक़शे में यह जाँस्कर नदी से मिल कर नि-मू के सामने सिन्धु में मिलता है। दो-तीन मील चलकर डेरा डाल दिया गया। रात को नदी पार खच्चर-घोड़े छोड़ दिये गये। साथ में चाय, आटा, मांस लेकर चार आदमी सोने गये। उनका घास को इफ़ात कहना पहले मुझे विश्वसनीय नहीं जँचा; किन्तु दूसरे दिन सबेरे देखा, वे गट्ठर बाँध-बाँध कर मोटी सफ़ेद लकड़ी ला रहे हैं।

२४ सितम्बर को भी तैयारी करते-करते ११। बज गये। मैंने साथियों से कहा—भाई, अब तुम १२ बजे के बाद चला करो, फिर मैं खाने-पीने से छुट्टी पा लूँ और कुछ क़लम-घिसाई भी कर लूँ। खैर। यह तो जब बड़ा-लाचा पार हो जायँगे तब होगा। ४ ५ मील

चलने पर हमें बाईं ओर से आता वह नाला मिला, जो काँगड़ा-ज़िला और कश्मीर-राज्य की सीमा है। नाले के इसी पार सफ़ेद खम्भा-सा है। नदी में पानी कम था; इसलिए हम दो जगह नदी पार हो लम्बी चढ़ाई-उतराई से बच गये।

चे-रब् नदी की शाखा यु-नन् नदी के किनारे जाना था। जहाँ यु-नन् और चे-रब् का संगम है, उसी नुक्कड़ पर बायें तट के ऊपर पहाड़ की जड़ से कई धारें फूट कर निकलती हैं। कुछ तो काफ़ी मोटी हैं। साथियों ने बतलाया—यहाँ पाण्डवों ने यज्ञ किया था। यज्ञ किया हो या नहीं, ये प्राकृतिक धारायें इसके योग्य हैं कि इन्हें तीर्थ बनाया जाय। किन्तु यहाँ यात्री कितने पहुँचते हैं; इसी लिए यह माहात्म्य किंवदन्ती ही तक रह गया। यु-नन् नदी के दाहने किनारे से अब हम ऊपर को चल रहे थे। इधर ब्रिटिश भारत है, इसका पता तो यात्री को बिना किसी के बतलाये मरम्मत किया रास्ता और मील-फ़र्लांग के पत्थर ही दे देते हैं। हमने पहले पत्थर पर कुल १२० मील देखा। कुछ दूर और चलने पर नदी के किनारे चौड़ा मैदान मिला। नीचे नदी के पास लिङ्-टी (सर छ) की सराय है। आगे सामने से जाँस्कर का रास्ता एक नदी के किनारे-किनारे आ रहा है। फिर यु-नन् नदी के दोनों तरफ़ खूब लम्बे-चौड़े मैदान हैं। पहले मैदान में एकाध स्तूप भी दिखाई पड़े। एक छोटी-सी टेकरी पर स्तूप और नीचे मणि दिखाई देती है। श्री गेर्ग्यन ने बतलाया था कि पुराने समय में कुल्लू और लद्दाखी राज्यों की सीमायें फोलङ्-डंडा में मिलती थीं, वहाँ एक पत्थर पर लेख भी है। मैं कुछ पत्थरों को इसी प्रकार देखता चल रहा था कि आसमान में बादल छा गया। हम चार बजे ११५ वें मील के पत्थर पर थे। तभी लोगों ने कहा—आगे चलना अच्छा नहीं। १२ मील पर जोत है। जोत के पास सर्दी भी अधिक होगी। एक फ़ुट बर्फ़ भी पड़ गई तो घास ढँक जायगी। जानवरों को तकलीफ़ होगी। बस डेरा पड़ गया।

रात और आज दोपहर तक भी बर्फ़ पड़ती रही। कल मैंने कुछ फ़ोटो भी लिये। कल शाम को ही युनन् पार के उस बड़े मैदान में खच्चर छोड़ दिये गये, जिसका वर्णन मैं ऊपर कर चुका हूँ। कल ही हमारी बग़ल के पहाड़ के ऊपर से हमारा साथी गट्ठर भर कर जंगली चना और घास लाया। दो-चार चनों की फलियों को मैं अपने साथ ले जा रहा हूँ। फलियाँ लम्बी-पतली होती हैं, दाना छोटा और काला होता है। उस पार के मैदान में जंगली गेहूँ भी होता है। यहाँ की घास की तारीफ़ में एक साथी कह रहे थे—चम्बा के गद्दियों और लाहुल के लाहुलियों की बकरियाँ यहाँ चरने को आया करती हैं। उनमें किन्हीं-किन्हीं की तो मोटाई से खाल फट जाती है। इसमें अतिशयोक्ति है; किन्तु घास के बाहुल्य में तो शक नहीं। जंगली गेहूँ और चना इसी तरह पहले उगता रहा होगा; जब कि आठ नौ हज़ार वर्ष पूर्व मनुष्यों ने खेती शुरू की। इधर के पहाड़ों में जंगली भेड़-बकरियाँ भी बहुत हैं। किन्तु ला-चा-लुङ् जोत से इस पार क्याङ् नहीं मिलते।

इधर हमारी सिद्धाई की दो बातें हुईं—(१) हमने कहीं कह दिया था, अभी वर्षा-बर्फ़ का डर है, जिसे इस बर्फ़ ने ठीक कर दिया, (२) लोग आपस में बातें कह रहे थे—स्वामी की उम्र क्या है? यही बीस-पचीस वर्ष की होगी। मैंने कहा—यारो! इसी तरह १०-१५ वर्ष घटाने पर ही तो १०० वर्ष तक रहना है। कल से ही मैंने एक और भविष्यवाणी कर रक्खी है—चार दिन बादल नहीं हटेगा। खच्चर भी यही चाहते हैं और मेरा लिखने का काम भी यही चाहता है। इस वक़्त आज ७॥ बजे रात तक आसमान साफ़ होने का लक्षण नहीं दिखलाई पड़ता; यदि दो दिन और रह जाना हुआ तो दो कहानियाँ भी लिख डालूँगा। यह पत्र यहाँ से तीन मंज़िल पर क-लङ् से भेजा जायगा।

आज दिन भर कैम्प के लोगों की बातें देखना और दोपहर बाद

यात्रा लिखना होता रहा। लेह से लाया अंडा आज समाप्त हुआ। खच्चरवालों की चार टोलियाँ हैं। हमारी टोली में चार आदमी, १२ खच्चर, दो गदहे और तीन घोड़े हैं। सिक्खों की टोली है—चार आदमियों की और कितने ही घोड़े-खच्चरों की। एक टोली में दो बाप-बेटे, एक नौकर के साथ कितने ही खच्चर, घोड़े और एक गदहा है। चौथी टोली में एक आदमी, उसका एक साथी, एक यारकन्दी, दूसरा पंजाबी नौकर, कितने ही घोड़े-खच्चर, एक गदहा (एक गदहा पीछे छूट गया)। बात-बात में मुँह से गाली निकालना तो इनका तकिया-क़लाम है। खाने को तो घर से भी बढ़िया रोटी, दाल, मांस, खूब डट कर बनाते हैं। आजकल खूब खाना, दो-दो घंटे बाद चाय, हर वक्त हुक्का और दुनिया भर की ग़प! सिक्खों की टोली में एक बूढ़ा सिक्ख है, जो ६०-७० वर्ष का होगा। तो भी मेहनत करने में सबसे बहादुर है। दो दिनों से तो पैर में पायजामा भी नहीं डाले हुए है। मुझे तो इनके साथ खूब आराम रहा। घोड़े से उतरते ही नम्दे पर बैठ जाता हुँ। तम्बू लगा, बिस्तरा लगा दिया जाता है। फिर मैं तम्बू में आ जाता हूँ। बिस्तरे पर ही चाय आ जाती है। सबेरे जब रोटी पकने लगती है तब बिस्तरे से उठकर शौच-दतवन से निवृत्त होकर भोजन पर बैठ जाता हूँ।

हाँ, एक घटना मुझे बड़ी दुःखद मालूम हुई। इन सभी खच्चर-वालों का लद्दाखियों के साथ बुरा बर्ताव होता है। "भोटा-भोटा" कह कर पुकारना तो आम बात है। वे समझते नहीं—उन्हें माँ-बहन की गाली भी देते हैं। जब हम ला-चा-लुङ्-ला के उस पार ठहरे थे तब रात के आठ-नौ बजे एक बूढ़ा लद्दाखी राहगीर डेरा देखकर ठहरने के लिए आ गया। बेचारा बोली भी नहीं समझता था। तम्बू में नहीं, बाहर एक कोने में सो रहना चाहता था; किन्तु उसे गाली दे-दे डंडे मारने का डर दिखाकर वहाँ से भगाया गया। मैंने सारी जमात की मनोवृत्ति देखकर कुछ नहीं कहा। किन्तु दुःख

मुझे बड़ा हुआ। लोग कह रहे थे, चोर है; और भी इसके साथी होंगे। मैं सो गया। रात को मैंने स्वप्न देखा कि कुछ भोटिया चोर मेरे बक्स को उठा ले गये, जिसमें "मज्झिम-निकाय" का अनुवाद और चार भोट-भाषा की पुस्तकें हैं! मैंने कहा—वही मेरी तीन मास की कमाई है। और चोरों को इससे कुछ फ़ायदा नहीं। अन्त में सोते में ही टटोलकर पास में वह बक्स पाने पर दुःस्वप्न हटा। दूसरे दिन तीन मील ऊपर चलने पर मैंने रास्ते में उस बूढ़े को आग पर चाय चढ़ाये देखा। ऐसी ही घटनायें जातियों में स्थायी वैमनस्य पैदा करने का कारण बनती हैं।

कुल्लू
२—१०—३३

प्रिय आनन्द जी,

कल ६॥ बजे रात को यहाँ पहुँचा। अब यात्रा का सिलसिला जहाँ से टूटा था, वहीं से शुरू करता हूँ।

फोलङ्-डंडा में मुकाम दो ही दिन रक्खा। चार दिन तक आसमान साफ़ न होने की मेरी भविष्यद्वाणी थी, जो बिलकुल सच निकली। लोग दो ही दिनों में उकता गये। २६ सितम्बर को दोपहर को ११ बजे काफ़िले ने कूच किया। पहले चढ़ाई साधारण थी। पाँच मील पर केलू का पड़ाव है। यहाँ भूले-भटके बर्फ़ के मारे राहगीरों के ठहरने के लिए एक छोटा-सा घर है। पास में एक छोटी धार बह रही है। पुल टूट गया था; इसलिए घोड़ों को पानी से पार करना पड़ा। कोई दिक़्क़त न थी; क्योंकि अब जाड़े का आरम्भ था। सभी बर्फ़ानी धारें पतली हो गई हैं।

अब थोड़ी चढ़ाई थी। आसपास लाखों वर्षों से टूट कर जमा होती छोटी-बड़ी चट्टानों का ऊबड़-खाबड़ ढेर था, जिनकी दरारों में यदि घोड़े का पैर चला गया तो मामला वहीं ख़तम। इसी वजह से खच्चरवाले बर्फ़ में चलने से डरते हैं। यदि बर्फ़ इतनी पड़ जाती

कि रास्ते-बेरास्ते का फ़र्क़ न रह जाता तो चलना बड़ा ही ख़तरनाक होता। चढ़ाई समाप्त कर, थोड़ी दूर हम एक धार के बायें किनारे चले। अब हमारे बायें प्रायः एक मील के घेरे की एक झील थी, जिसे युनन्-छो कहते हैं। गर्मी-वर्षा में पानी अधिक रहता है। इस समय तो बहुत-सा हिस्सा सूखा है।

अब थोड़ी-थोड़ी बर्फ़ भी पड़ने लगी। १०५ वें मील से कुछ बर्फ़ भी हमारे आस-पास थी, तो भी मार्ग में अभी कुछ नहीं था। धीरे-धीरे बर्फ़ बढ़ने लगी। १०४ मील से अब हम बर्फ़ के ऊपर चल रहे थे। ऊपर से हिम की सफ़ेद कीलें बरस रही थीं और नीचे चाँदी का पाँवड़ा बिछा हुआ था। ख़च्चरों के पीछे पीछे हम पाँचों जने घोड़ों और ख़च्चरों पर जा रहे थे। मालूम होता था, बड़े लाचा के यहाँ ब्याहने बारात जा रही है। चढ़ाई कड़वी न थी; किन्तु हम १६ हज़ार फ़ुट से ऊपर जा रहे थे; इसलिए घोड़े लम्बी साँसें ले रहे थे। जोत की ओर अग्रसर होते समय हिम-वर्षा भी अधिक हो गई। अब चारों ओर सफ़ेद बर्फ़ के सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता था। सारे शरीर को तो हमने ढँक लिया था; किन्तु आँखों को क्या करते। रह-रह कर आँखों में भी बर्फ़ का एकाध फाहा पड़ जाता था। जोत के देवता के स्थान का पत्थरों का ढेर और लाल-पीली झंडियाँ दिखाई पड़ीं। चित्त में सन्तोष हुआ—अब चढ़ाई समाप्त होगी और बर्फ़ पर चलना भी आधा ही रहेगा।

जोत के पास भी एक छोटा-सा चहारदीवारी से घिरा मकान है। उतराई शुरू हुई; किन्तु वह भी आसान थी। हाँ, उस बर्फ़ के खेत में कई बार ख़च्चर रास्ता भूल गये। कुछ दूर बाद उतराई जैसी मालूम हुई। दो मील चलने पर सूरजदल की छोटी-सी झील मिली। लोग कह रहे थे कि यह 'पतालफोड़' झील है, इसी लिए इसका पानी काला है। इसमें भी आज पानी उतना फैला हुआ न था। एक किनारा समाप्त कर हम दूसरे किनारे पर आये। सुना—जल्दी करो,

जल्दी करो। अभी मैं सोच ही रहा था कि देखा, अगले खच्चर के निकलते-निकलते सेर-सेर, आध-आध सेर के तीन-चार पत्थर ऊपर से आ धमके। अब मैं पहाड़ की ओर देखने लगा। वहाँ पतली बर्फ़ की तह से ढँके, मृत्तिका-शून्य छोटे-बड़े पत्थर हैं। सारा पहाड़ पत्थरों की खिसकाहट से सजीव-सा मालूम होता था—यह कहना बहुत अतिशयोक्ति न होगी। वह दृश्य रोमांचकारी था। एक साथी बतला रहा था कि पिछले वर्ष उसकी खच्चरी के निकलते ही एक बड़ा पत्थर ऊपर से आया और पीछेवाली खच्चरी के पैर में लगा, जिससे उसकी हड्डी टूट गई; और खच्चरी को वहीं छोड़ देना पड़ा। पत्थरों के गिरने के ढंग से मालूम होता था कि कोई बैठकर ऊपर से पत्थर फेंक रहा है। इसी लिए तो पुराने चीनी यात्री और आजकल भी कितने ही पहाड़ी विश्वास करते हैं कि यह सब किसी देवता की करामात है। आधी साँस ऊपर और आधी साँस नीचे किये, देवता मनाते, यात्री किसी प्रकार उस चलायमान पहाड़ को पार कर गये। उतराई थी; किन्तु कोई कठिन नहीं थी। अब हिम-वर्षा भी बहुत कम हो गई थी। बर्फ़ का फ़र्श भी अब कम होता जाता था; किन्तु वह १००वें मील तक आस-पास मिलता गया। अब हम चनाब की एक शाखा भागा के दाहने किनारे से चल रहे थे। दूर पहाड़ों पर हरी घासें और लाल बूटियाँ दिखाई पड़ रही थीं, तो भी अभी वृक्षों का नाम न था। दूर से नीचे एक काठ का पुल दिखाई पड़ा। साथियों ने कहा, उस कोने की आड़ में जिङ्-जिङ्-वड का पड़ाव है। आज पर-सेव् में ठहरना हो गया। जिङ्-जिङ् वड में लोग इसका निश्चय नहीं कर सके थे। पुल पार कर रास्ता कुछ अच्छा मिला। मैंने अपने घोड़े को आगे बढ़ाया। सोचा—यहाँ चींटी की चाल चलने से आगे पड़ाव पर ठहरना अच्छा है। कड़वी उतराई पर साधारण चाल से चलाता, अच्छे रास्ते में घोड़े को दौड़ाता। जब मैं जिङ्-जिङ्-वड की सलेटी पत्थर से छायी सराय पर पहुँचा

तब देखा कि अभी भी काफ़ी दिन है। अब मैं पर-सेव् के लिए चल पड़ा। उजाला रहते-रहते पर-सेव् पहुँच जाने की आशा थी; किन्तु दो मील चलने पर बाईं रिकाब का चमड़ा टूट गया। एक रिकाब के भरोसे पर घोड़े को दौड़ाने की हिम्मत पहले तो न हुई; किन्तु कुछ समय चलने पर जब अँधेरे को पीछा करते देखा तब उस बादलों से घिरी रात में अपने और घोड़े की टाँग तोड़ने का भय मालूम होने लगा। लाचार एक ही रिकाब के सहारे घोड़े को दौड़ाना शुरू किया। तो भी जब पर-सेव् पहुँचा तब इतना अँधेरा हो गया था कि काले और लाल धागे की पहचान नहीं हो सकती थी।

पर-सेव् एक जनशून्य स्थान है। सावन के महीने मे यहाँ एक बड़ा मेला लगता है, जिसमें कुल्लू, लाहुल, स्पिती, लद्दाख, जाँस्कर और तिब्बत के बहुत-से लोग जमा होते हैं और अनाज, भेड़, बकरी, ऊन, घोड़े,, गदहे का क्रय-विक्रय करते हैं। भागा की बाईं ओर एक डाकबँगला और एक सराय है। भागा की दाहनी ओर भी एक सराय है । नदी पर लकड़ी का पुल है। पुल पार कर मैं दाहनी ओर की सराय में गया। देखा, वहाँ दो लाहुली नौवजवान पड़े हैं। एक चाय बना रहा है और दूसरा भेड़ों के बोझवाले ऊन की छल्ली लगा रहा है। मेरा वहाँ आना उन्हें अरुचिकर जरूर लगा; लेकिन मैंने उनसे कह दिया कि साथियों के आते ही मैं यहाँ से चला जाऊँगा। घोड़े को एक कोने में बाँध दिया।

सराय के आँगन में भेड़ों की मेंगनियों की एक मोटी तह जमी हुई थी, जो वर्षा से भीग गई थी; इसलिए वहाँ बैठना तो हो नहीं सकता था। खड़े-खड़े लाहुली को ऊन की गोनो की तह लगाते देखने लगा। थोड़ी देर बाद उसका साथी भी मदद देने के लिए आ गया। पाँच-पाँच गोने एक के ऊपर एक रक्खी गईं। सराय के दोनों तरफ़ के मकानों में तीन-तीन द्वार थे और एक ओर पाँच द्वार थे। खुले

हिस्से को भी उन्होंने अपनी ऊन की गोनों से घेर दिया। सिर्फ़ एक छोटा-सा रास्ता रह गया, जिसके बाहर दो सफ़ेद और काले कुत्ते बैठ हुए थे। छल्ली लगा कर एक ने बोझों को गिना। मैंने तो समझा था कि वह एक बीस, दो बीस, गिनेगा; किन्तु देखा वह ब्र्ग्य-थम्प (१००) तक गिन सकता है। बोझे २०० से ज्यादा थे। पूछने पर मालूम हुआ कि वह चाङ्-थाङ् (तिब्बत) से इस ऊन को ला रहे हैं। वर्षों पहले चाङ्-थाङीय खानाबदोशों से य प्रत्येक भेड़ की ऊन का ठका किये रहते हैं। मालिक भेड़ें गिनाकर चाय, चीनी तथा दूसरी चीज़े एवम् नक़द के रूप में दाम ले लेता है। ऊन का काटना-कूटना खरीदार का काम रहता है। यह ऊन कुल्लू को जा रहा है, जहाँ इसे धारीवाल और कानपुर के ऊनी मिलोंवाले ले लेंगे। थोड़ी देर के बाद चर कर भेड़ें आ गईं। भीतर करते वक़्त एक एक भेड़ गिनी जाने लगी। मालूम हुआ, एक भेड़ कम है। दो आदमी ऊपर की ओर गये। सीटियाँ बजा-बजा भेड़ों को बुलाने लगे। उनके ऊपर बढ़ते जाने के साथ-साथ सीटी की आवाज़ भी दूर होती जाती थी। यद्यपि नीचे नदी की घरघराहट के कारण मुझे खच्चरों के घंटे की आवाज़ नहीं सुनाई दी; किन्तु भेड़वाले ने बतलाया— तुम्हारे खच्चर उस पार की सराय की ओर गये हैं। आदमी ने कुत्तों को रोका और मैं घोड़ा लेकर घेरे से बाहर हो गया।

कुछ ही मिनटों में पुल से नदी पार हो, मैं डाक-बँगलावाली सराय में पहुँच गया। देखा, साथी खच्चरों के बोझ को उतारकर उनके ओढ़ने को ठीक कर रहे हैं। अब रात के नौ बज गये थे। दो आदमी खच्चरों को चराने के लिए डेढ़ मील दूर एक नाले में छोड़ने गये; और दो आदमी डेरे पर अन्य कामों के लिए रह गये। टार्च से देखने पर मालूम हुआ कि यह सराय भी उसी नमूने पर बनी है। लम्बाई में पाँच और दो तरफ़ दो-दो कोठरियाँ हैं। एक कोठरी की सफ़ाई की बड़ी प्रशंसा कर साथी ने ठहरने को कहा।

मैंने कहा, मेरे पास पिस्सुओं और खटमलों को पिलाने के लिए ख़ून नहीं है; ख़ासकर जब कि उनमें भलमनसाहत छू तक नहीं गई है। चुपचाप यदि ख़ून ले लेते, तो कोई उज़्र नहीं। अस्तु। मेरा बिस्तरा तम्बू के नीचे ही लगा। तम्बू तान दिया गया। मोमबत्ती के सहारे आज की डायरी लिखी, फिर सो गया।

सबेरे (२७ सितम्बर) नाश्ता कर चुकने पर देखा कि अभी साथियों के चलने में बहुत देर है। मैंने दोपहर के लिए कुछ मेव और बिस्कुट (अंडे फोलङ्-डंडे में ही खतम हो चुके थे) झोले में रक्खे; और चल दिया। कुछ बूँदें अब भी पड़ रही थीं। सोबराती (सुक्ख आदि ने बरसाती कोट को यही नाम दे रक्खा है) ने मेरे सिर और पीठ को ढाँक रक्खा था; किन्तु आगे के कुछ वस्त्रों पर बूँदें पड़ रही थीं। उसी पुल से फिर भागा के दाहने तट पर आना पड़ा। अब उतराई कुछ कड़वी थी; इसलिए घोड़े को दौड़ाने का मौक़ा न था। उतराई के साथ-साथ हरियाली भी बढ़ती जाती थी; किन्तु भागा के बायें तट पर पहले भोजपत्र के वृक्ष को देखने के लिए १॥-२ मील नीचे उतरना पड़ा और दाहनी तरफ़ देवदार, तो और नीचे दिखाई पड़ा। रास्ता यद्यपि सुसंस्कृत था, तो भी एकाध जगह नीचे की ओर देखने की हिम्मत न हुई। अब हमारे नीचे-ऊपर बाँसी की तरह की एक लम्बी-लम्बी घास बहुत आने लगी। दाहनी ओर एक दुरारोह चट्टान पर किसी पुराने मठ का ध्वंसावशेष था, रास्ते के पास पुराने ऊजड़ खेत थे।

पूरे एक सप्ताह बाद आज दोपहर को १२ बजे पहला घर देखने को मिला। यह दार-चा गाँव था। अब आसपास पहाड़ों पर काफ़ी देवदार के वृक्ष थे। गाँव में यहाँ भी लद्दाखवाले सफ़ेदे और वीरी के वृक्ष मौजूद थे। घर का ढंग ही लद्दाखी नहीं था, बल्कि थोड़ा नीचे मैंने कुछ स्त्रियों को फीरोजों के सर्पाकार लद्दाखी शिरो-भूषण पि-रक् को भी पहने देखा। आगे एक स्त्री को पीठ पर बोझा

से गुज़रते देखा। उसकी नाक में सोने की दुअन्नी-भर की "लौंग" भी पड़ी थी। मैं तो समझने लगा, सारे लाहुल में स्त्रियों ने आभूषणों में लद्दाखी पि-रक् और "लौंग" को अपनाया है; किन्तु आगे देखने से पता लगा कि लद्दाखी पि-रक् सिर्फ़ दार-चा गाँव में ही है।

इस पहले घर के ऊपर से नीचे दूर, तीन धारों का संगम दिखाई पड़ा। हमारी बिचली धार की बाईं ओर से एक और धार आ रही थी और दाहनी धार को पुल से पार करने के लिए अब आधा मील दाहनी ओर मुड़ना पड़ा। पुल पार कर फिर भागा की सम्मिलित धार की ओर लौटा। मोड़ का रास्ता चढ़ाई का था। ठीक मोड़ के कोने पर बहुत दूर तक बिखरी छोटी-बड़ी चट्टानों का ढेर था, जिस पर कहीं-कहीं एकाध देवदार के वृक्ष भी खड़े थे। मैं तो समझ बैठा कि लाखों वर्षों तक टूट-टूट कर जमा होती पहाड़ी चट्टानों का यह ढेर है; पर उस दिन रात को बात-चीत के समय इस ढेर का सच्चा "इतिहास" मालूम हुआ। बहुत पहले इसी स्थान पर एक बड़ा गाँव था, जिसमें १०० घर थे। एक दिन गाँव के सारे लोग एकत्र हो भोज कर रहे थे। उसी समय बड़े लाचा की ओर से कोई वृद्ध आया। उसे साधारण भोटिया समझ सभी लोगों ने उसका तिरस्कार-कर पंक्ति के नीचे की ओर कर दिया। सबसे अन्त में एक लड़का बैठा हुआ था। उसने बूढ़े को अपना आसन दे अपने से पहले स्थान पर बैठाया। भोज और छङ् के बाद वृद्ध अन्तर्धान हो गया। लोगों ने नाच-रंग शुरू किया। उसी समय एक भारी तूफ़ान आया, जिसके साथ लाखों भारी-भारी चट्टानें पहाड़ से गिरने लगीं। सारा गाँव उनके नीचे दब गया। तूफ़ान ने उस लड़के को उड़ाकर दरिया के पार कर दिया। उसकी सन्तान अब भी मौजूद है और शायद यह "ऐतिहासिक" घटना भी उसी की परम्परा से सुनी गई है। पीछे इन चट्टानों पर एक जबरदस्त भूत रहने लगा। वह दिन-दोपहर को आदमी को पकड़कर खा डालता था। उस तरफ़ इक्के-दुक्के

निकलनेवाले आदमी "त्राहि माम्" करते जाते थे। आस-पास के गाँव-वाले कितने ही पूजा-पाठ, मन्त्र-तन्त्र करके हार गये; किन्तु वह भूत काबू में नहीं आया। दो-तीन वर्ष पूर्व हेमिस् (लद्दाख) मठ के महन्त कुशक् स्तग्-सङ्-रस्-पा इधर से आये और मन्त्र से भूत को बाँध दिया। तब से उस भूत ने न तो किसी को सताया और न उसे निकलते ही किसी ने देखा। पहली घटना से नष्ट हुए गाँव के प्राणियों के लिए मुझे अफ़सोस ही हुआ; किन्तु दूसरे भूत की बात को सुन-कर तो मेरी आत्मा रोम-रोम से अपने मित्र कुशक्-तक्-सङ्-रस्-पा को आशीर्वाद देने लगी—यदि कहीं वह भूत खुला होता तो चुपचाप अकेले उधर से गुज़रते मेरी क्या हालत हुई होती। शायद मेरे हाथ का लिखा यह पत्र तुम्हें नहीं मिलता। सबसे अधिक अफ़सोस तो मुझे होता, बेचारे सुक्खूलाल के घोड़े के लिए, जिस पर मैं सवार था। क्या जाने भूखे भूत का पेट सिर्फ़ सवार से न भरता। ये "सच्ची" कथायें को-लङ् के १५ वर्षीय ठाकुर कल्-सङ्-दावा से मालूम हुई, जो कुल्लू हाई स्कूल में नवें दर्जे में पढ़ रहे हैं।

अब बूँदें बन्द हो गई थीं; यद्यपि आकाश में अब भी मेघ मँडरा रहे थे। जगह-जगह लोगों को खेत या घास काटते देखा। जाड़ा सिर पर है। देवदार छोड़कर दूसरे वृक्षों की पत्तियाँ पीली पड़ गई हैं। लोग जाड़े में जानवरों के चारे के प्रबन्ध में लगे हुए हैं। रास्ते में कितने ही टीले मिले। मैंने भोट-भाषा में कुछ पूछ कर देखा कि, लोग उसे समझते हैं। वृक्षों की इफ़रात से लोग इधर मकानों में लकड़ी के इस्तेमाल में कंजूसी नहीं करते। यद्यपि लाहुल में लद्दाख से कुछ ही अधिक वर्षा होती है; किन्तु इस वर्ष की वर्षा के बारे में लोग कह रहे थे—ऐसी वर्षा होती बूढ़ों ने भी नहीं सुनी थी। इसके परिणाम-स्वरूप रास्ते में मैंने भी एक मकान को टेढ़ा-मेढ़ा हुए देखा।

देवदार के जंगल में एक डाकबँगले और सराय को देखते-देखते

२ बजे मैं को-लङ् गाँव के टोलेग्य-मुर में पहुँचा। पूछने पर आसानी से ठाकुर मंगलचंद (ट-शी दा-वा) का मकान मिल गया। गाँव में गोबर और भेड़ की मेंगनियों की खमीर बना ज़बरदस्त कीचड़ था, जिसमें कहीं-कहीं फिसलने का भी डर था। घोड़े को मैंने बाहर, एक ओसारे में, बाँध दिया। एक लड़की मुझे ठाकुर मंगलचन्द्र के मकान में ले गई। पहली सीढ़ी चढ़ते ही अँधेरे में आँखों ने जवाब दे दिया। अब मैं रसोंई-घर में था, जहाँ धुँआ भी था, तो भी दो-तीन छोटे-छोटे रोशनदानों से कुछ रोशनी आ रही थी। देखा—बालों की बहुत-छोटी-छोटी रस्सियाँ बाँट, पीठ पर डाले, उनके सिरे पर हथेली से बड़े एक चौकोर चाँदी के भूषण को धारण किये (जिसमें घुँघरू भी थे) तथा दोनों कनपटों के ऊपर बाल में एक-एक छटाँक के दो पीले अम्बर गूँथे, सिर के पिछले भाग पर एक चाँदी की कटोरी से रखे एक प्रौढ़वयस्का स्त्री आदमियों को चाय, छङ् और सत्तू परोस रही है। आसन पर बैठ कर खानेवाले बढ़ई और घर के मज़दूर थे। परोसनेवाली स्वयम् गृहस्वामिनी थीं, जिनके पैर में पड़ा रबड़ के तल्ले का जापानी बूट भी इसका पता दे रहा था। पीले कपड़े पहने एक अजनबी को एकाएक आकर खड़ा हो जाते देख सभी चकित हो गये। थोड़ी देर के बाद "कौन" "कहाँ से" पूछा गया और उत्तर को भी उपेक्षा से सुन लिया गया। घंटे भर मैं वैसे ही खड़ा रहा। किसी ने बैठने के लिए नहीं कहा; बल्कि कुछ तो मेरे लिए आपस में मज़ाक कर रहे थे। ठाकुर मंगलचन्द डिप्टीकमिश्नर को पहुँचाने के-लङ् गये हुए थे। एक बार तो मैंने चल देने की सोची। मेरे पास कुल्लू के भूतपूर्व असिस्टेंट कमिश्नर श्री ली० शटल्वर्थ आई० सी० एस० तथा वर्तमान असिस्टेंट कमिश्नर की चिट्ठियाँ थीं। मैंने उन्हें दिखाया और कहा कि मेरे मित्र ली० शटल्वर्थ ने ठाकुर मंगलचन्द के बारे में लिखा है। उस वक़्त एक १५ वर्ष का दुबला-पतला लड़का आग के पास से उठकर मेरे पास आया। उसने चिट्ठियाँ देखीं और अपनी माँ को कहा। ज़रा ही देर में वायु-मण्डल

बदल गया। तिनतल्ले पर, बैठक के कमरे में, मुझे ले जाया गया। बैठक में बढ़ई काम कर रहे थे; इसलिए मुझे बाहर चारपाई पर बैठने के लिए कहकर स्त्रियाँ कमरे को जल्दी-जल्दी साफ़ करने लगीं। मैं उक्त लड़के (जो ठाकुर मंगलचन्द का बड़ा पुत्र खुशालचन्द था) कल्-सल्-दावा (यहाँ ठाकुरों में हिन्दी और भोटिया दोनों नाम हुआ करते हैं) से बातें करने लगा।

कमरा साफ़ हो जाने पर मैं अन्दर गया। चाय के लिए पूछने पर मैंने कहा कि बिना दूध की मक्खनवाली नमकीन चाय पी सकता हूँ। थोड़ी देर में चाय भी आ गई। गृहस्वामिनी के साथ मैंने लाल मखमल का कुर्ता, पायजामा और वास्केट पहने एक षोडशी को काम करते देखा। मैं समझ रहा था कि यह गृहस्वामिनी की पुत्री है; किन्तु वह पुत्री नहीं बल्कि उनके पुत्र ठाकुर खुशालचन्द की पत्नी थी। ठाकुरों के लाहुल में सिर्फ़ तीन घराने हैं, वे अपनी लड़कियों को अठाकुरों को नहीं दे सकते; इसी लिए उन्हें बेजोड़ शादियाँ करनी पड़ती हैं। यह बहू गूँदले के ठाकुर फतेचन्द की बहन थी।

रात होने पर ठाकुर मंगलचन्द से मुलाक़ात न होने पर मुझे अफ़सोस हो रहा था। श्री शटल्वर्थ और लद्दाख के मित्रों ने कहा कि लाहुल के पुराने मन्दिरों और स्थानों का परिचय आपको उन्हीं से मिलेगा। बड़ी प्रसन्नता हुई, जब थोड़ी देर, बाद के-लङ् से ठाकुर मंगलचन्द का नौकर आ गया और उसने बतलाया कि ठाकुर साहब आज आ जायँगे।

रात को सोने लगा तब ठाकुर साहब भी आ पहुँचे। बड़े प्रेम से मिले। देर हो जाने से बातचीत नहीं की। २८ सितम्बर को सबेरे उठा। बहू ने पानी आदि ला रक्खा। यहाँ स्त्रियाँ पूरी स्वतन्त्र हैं। मध्य-भारत में ऐसी स्थिति के व्यक्ति की स्त्रियाँ तोप-झाँपकर रक्खी जाती हैं। नाश्ता के बाद बातचीत शुरू हुई। डाक्टर फ़्रांके ने अपने (Antiquity of Indian Tibet, Part II) में इनके वंश

का राजपूतों से सम्बन्ध की बात को बिलकुल कपोल-कल्पित लिखा है। कहा है कि इनका सम्बन्ध तिब्बतियों से है। इधर ठाकुर मंगलचन्द के पिता ठाकुर हरिचन्द तिब्बत के सम्बन्ध से बिलकुल इनकार करते थे; यद्यपि उनकी मातृभाषा तिब्बती है। मैंने मध्य-मार्ग को चुना था——माँ की तरफ़ तिब्बत से और बाप की ओर से काँगड़ा के बंगाल के राजपूतवंश से। मैंने जब यह बात कही तब ठाकुर मंगलचन्द ने कहा——यह बिलकुल ठीक है। हमारे पूर्वज नीला राणा बंगाल से आये थे। उस समय खङ्-सर् (कोलङ्) के आस-पासवाले प्रदेश पर एक राजकुमारी का शासन था। नीला राणा ने उससे विवाह किया। सन्तान हुई। पीछे नीला राणा के शिकार और अत्यन्त कठोरता से लोग तंग आ गये। नीला राणा एक दिन शिकार खेलने गया। उसका शिकार एक दुर्गम खोह में गिर गया। कोई आदमी वहाँ उतरकर शिकार ले आने के लिए प्रस्तुत न था। पीछे वह स्वयं, कमर में रस्सी बाँध कर उतरा! लोगों ने रस्सी काट दी। बेचारा वहीं चिल्लाता छः-सात दिनों में मर गया। इस विषय के गीत भी लाहुल में प्रचलित हैं। मैंने उन गीतों को संग्रह करने के लिए ठाकुर पृथ्वी-चन्द को कहा है। माता की ओर से इनका सम्बन्ध महान् स्रोन्-चन्-गम्-पो के वंशज तथा अतिशा को बुलानेवाले ल्ह-लामा ये-शेस्-ओद् से है।

मध्याह्न भोजन के बाद मैं ठाकुर मंगलचन्द के साथ गाँव से आधा मील पर ऊपर की ओर स्थित ग्यं-मोत मठ देखने गया। मठ सत्रहवीं शताब्दी में बना था। भोट-देशीय लामा ठिन्-ले-शिङ्-ता इसका संस्थापक था। श्रीशटल्वर्थ ने इस मठ के रेशमी चित्रपट की बड़ी प्रशंसा की थी। जाकर मन्दिर और चित्रपट के फोटो लिये। मन्दिर के गर्भ की दीवारों पर कुछ चित्र भी हैं। सम्भव है, वह भाग ठिन्-ले-शिङ्-ता से पुराना हो। ठाकुर साहब ने रहने का बहुत आग्रह किया; किन्तु समय की कमी और साथियों की जल्दी बाधक थी।

साथियों को पहले ही भेज दिया था। मैं दो बजे चला। यहाँ से के-लङ् (लाहुल का शासन-केन्द्र) दस मील पर ही है। रास्ता भागा नदी के किनारे नीचे की ओर को है। धीरे-धीरे खेत और देवदार



मार्ग में मिलनेवाले एक गाँव के निवासी

बढ़ते जा रहे थे। लाहुल को लाहुली और तिब्बती दोनों ही गर्-जा या ह-शा कहते हैं। लाहुल तो कुल्लू और नीचेवाले कहते हैं। ग्राम्य वृक्षों की पीली पत्तियाँ आनेवाली शीत-ऋतु का परचिय दे रही थीं। प्रदेश शीतल, हरित और सुहावना है। इसका नामकरण ल्ह-युल् (देव-देश) ठीक ही जँचता है।

लाहुल की आबादी दस हज़ार के क़रीब है। बहु-पति-विवाह उठ सा गया है; इससे जन-संख्या बढ़ रही है। पिछली मर्दुमशुमारी में यहाँ और स्पिती, दोनों के निवासियों ने अपने को हिन्दू लिखाया है। ठाकुर साहब अफ़सोस प्रकट कर रहे थे। मैंने कहा—हम हिन्दू शब्द को ब्राह्मण-धर्मियों के हवाले नहीं कर सकते। यह हमारा सम्मिलित शब्द है। वे हिन्दू-बौद्ध खुशी से लिखा सकते हैं। उन्होंने कहा—सो तो लिखाते हैं।

प्रकृति की शोभा को देखते पाँच बजे के-लङ् पहुँचे। के-लङ् में लाहुल के तहसीलदार रहते हैं। यह पद ठाकुर मंगलचन्द के वंश में खानदानी है। ठाकुर मंगलचन्द के पिता ठाकुर हरिचन्द की मृत्यु के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र ठाकुर अमरचन्द तहसीलदार हुए। उनके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र अभयचन्द, जिनके दिमाग़ में विकार हो जाने पर छोटे भाई ठाकुर प्रतापचन्द आजकल तहसीलदार हैं। सबसे छोटे भाई ठाकुर पृथ्वीचन्द हैं, जो एफ़० एस० सी० में अनुत्तीर्ण होकर कुछ समय से पढ़ना छोड़ बैठे हैं। इस वर्ष के आरम्भ में बर्मा गये थे। उसका काफ़ी प्रभाव पड़ा है। पाली पढ़ रहे हैं। मैंने कहा—तुम तिब्बती-भाषा लेकर कलकत्ता-विश्वविद्यालय की एफ़० ए० की परीक्षा दो; और, आगे बढ़ो। फ़ौज में कमीशंड आफ़िसर होने के लिए भी लिखा-पढ़ी हो रही है। इस साल परीक्षा देने जायँगे। पास हो गये तो उधर, नहीं तो तिब्बती-भाषा के साथ विश्वविद्यालय में प्रवेश। के-लङ् में वही अपने निवास-स्थान पर मिले। तहसीलदार तो डिप्टी-कमिश्नर को पहुँचाने गये थे। बड़ी आव-भगत की।

के-लङ् में सरकारी अस्पताल और मिडिल स्कूल भी है। एक ईसाई-मिशन भी है, जो पौन शताब्दी में सिर्फ़ ३-४ घरों को ईसाई बनाने में कामयाब हुआ। दो-चार दूकानें भी हैं। पहले जीरा और ऊन की आमदनी लाहुलवालों को बहुत थी। अब कूट की जड़ अवश्य २॥, ३ रुपये सेर बिक जाती है; और, उसकी खेती भी अच्छी की जाती है। पहले कूट कश्मीर-राज्य के जंगलों में ही पाया जाता था। पीछे यहाँ के लोगों ने खेती शुरू कर दी। यहाँ शस्त्र-क़ानून नहीं है और कच्ची शराब बनाने की भी स्वतन्त्रता है।

प्रिय आनन्दजी,

२९ सितम्बर को ठाकुर पृथ्वीचन्द के साथ गुङ्-रङ् देखने गया। लाहुल में खङ्-सर के बाद गुङ्-रङ् और गूँदला के ठाकुरों का दर्जा है। खङ्-सर की भाँति गूँदला में सर्वप्रथम राणापाल आये थे;

किन्तु गुङ्-रङ् में लड़की की सन्तान चलती रही। इन तीनों ठाकुरों का आपस में शादी-ब्याह होता है। लद्दाख के वर्तमान राजा की "रानी" गुङ्-रङ् के ठाकुर की बुआ हैं। यहाँ अठारहवीं सदी का एक मन्दिर है, जिसमें स्तोन्-पा (शास्ता) की मूर्ति है। बड़ी बुरी अवस्था में है; दीवारों के चित्र बहुत कम बाक़ी रह गये हैं। प्रधान मूर्ति के पीछे की दीवार का कुछ हिस्सा गिर गया है, जिससे कुछ अप्रधान मूर्तियाँ टूट गई हैं। बाक़ी मन्दिर भी गिरना चाहता है। गाँववाले दैवी आपत्ति के भय से मरम्मत कराना नहीं चाहते। मैंने ठाकुर प्रेमचन्द और ठाकुर पृथ्वीचन्द को बहुत कहा है। देखिए, मरम्मत हो जाय, तब।

वहाँ से अब नदी के पार दो पुरानी मूर्तियों को देखना था। मार्ग-प्रदर्शक एक लड़का दे दिया गया। कुछ न पूछो। वह अपने योग्य रास्ता चुनता था। इधर अपने राम की हालत बुरी हो रही थी। किसी-किसी जगह चतुष्पाद बनना पड़ रहा था! उतराई भी क़रीब एक मील के थी। राम-राम करके उतराई समाप्त हुई। सोच रहा था—शान्तरक्षित और दीपंकर श्रीज्ञान जैसे वृद्ध और मेरे जैसे "मैदानी" आदमी, किस तरह उस समय के भोट-देशीय मार्गों पर चलने के लिए तैयार हो गये! शायद उन्हें मार्गों का पूरा पता नहीं था। तिब्बत में आकर ज़रूर अपनी करनी के लिए पछताते होंगे। पुल पार होकर जो-लिङ् (स्वामिद्वीप) में पहुँचे। एक अब-तब गिरने-वाले मकान में—जिसकी वर्षों से किसी ने मरम्मत नहीं की—ग्यारहवीं सदी की दो सुन्दर काष्ठ-प्रतिमायें हैं। वर्षा और हिम ने उनका बहुत-सा हिस्सा समाप्त कर दिया है। यहाँ के भी आस-पास के लोग, मूर्ति की सुरक्षा का प्रबन्ध करने को, अपने ऊपर विपत्तियों के पहाड़ों के टूटने का निमन्त्रण देना समझते हैं। मूर्ति देखी। फ़ोटो उतारा। १२ बजने को आया। के-लङ् में खाना तैयार था; किन्तु वहाँ पहुँचने भर को समय न था। वहीं गृहस्थ लामा के घर में

नमक के साथ रोटी खाई। १ बजे के क़रीब केल-ङ् पहुँचे। पादरी एश-बो से मिलना था। वे भोट-भाषा भी जानते हैं। जल्दी-जल्दी में मिल आया। दो-चार बातें भी कर आया।

ख़च्चरवाले तो पहले ही रवाना हो गये थे। दो बजे मैं भी ठाकुर पृथ्वीचन्द के साथ आगे के लिए चल पड़ा। असली रास्ते में भागा के ऊपर का पुल टूट गया था; इसलिए वहीं कड़ी उतराई उतर कर और पुल पार कर फिर कड़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ी। ऊपर आने पर घोड़े की अगाड़ी तड़ से टूटी। खड़ी चढ़ाई पर टूटी होती तो मज़ा आ जाता। आगे फोब्-र्दङ् गाँव है। एक लामा ने पास में ही एक सुन्दर मठ बना लिया है। लामा की बड़ी धाक है। लोग कहते हैं, वह चौतल्ले से आसन बाँध कर कूदता है! हठयोग की कुछ क्रियाओं को वह ज़रूर जानता है। फार्दङ् गाँव में एक चट्टान पर दो भद्दी मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। २-३ मील जाने पर फिर कड़ी उतराई। और फिर उस जगह पहुँचे, जहाँ भागा के टुटे पुल पर नये पुल के बनाने की तैयारी हो रही थी। यहाँ से ऊपर चढ़कर गुरु-घंटाल जाना था। जाने का विचार था; किन्तु चार बज गया था। अँधेरे से पूर्व तो नीचे उतर नहीं सकते थे। फिर हमें ६ मील और जाना था। मालूम हुआ, मन्दिर भी बहुत पुराना नहीं है। वहीं से क़दम आगे को बढ़ाया। कुछ ही दूर आगे की ओर चन्द्रा और भागा नदियाँ गले-गले मिल रही थीं। आगे इनकी सम्मिलित धार चन्द्रभागा कही जाती है, जो नीचे की चनाब है। चन्द्रा के किनारे ४ कोठियाँ (इलाके), भागा के किनारे ४ कोठियाँ और चन्द्रभागा के किनारे ७ कोठियाँ हैं। चन्द्रभागा का तट इतना गर्म है कि वहाँ मक्का और साल में दो फ़सलें हो सकती हैं। इसका नाम पटन (दरिया का घाट) है। इस इलाक़े में कुछ ब्राह्मण भी हैं। लाहुल की दस हज़ार की आबादी में कोलङ् (खङ्-सर) के-लङ्, गूँदला, और पटन की चार भाषायें बोली जाती हैं। शाम होते-होते गूँदला पहुँचे। यहाँ के ठाकुर

फतेचन्द को ठाकुर पृथ्वीचन्द की बहन व्याही है। यहाँ भी लोअर मिडिल स्कूल है। ठाकुर साहब का मकान तिब्बत के पोतला आदि प्रासादों के आकार का है। इस हवेली में लकड़ी का बड़ा ख़र्च किया गया है और यह ६ तल्लों की है। हमारे साथी चार मील और आगे ठहरे हुए थे। मैंने ठाकुर साहब के महल में रात्रि को विश्राम करना चाहा। रात में "घोड़ा बेंच कर सोने" जैसी नींद आई।

३० सितम्बर को सबेरे उठा। ठाकुर साहब के ६ महले काष्ठ-प्रासाद का फ़ोटो लिया। फिर परिवार के प्रतिमागृह में गया। यहाँ कुछ पुस्तकें थीं। "कर्म-शतक" की एक प्रति थी। नाम देखते ही प्राचीनता का संदेह हुआ। खोलकर देखा, तो बात ठीक निकली। शब्दों में अतिरिक्त द् और तालपत्र की पोथियों की भाँति सूत पिरोने के दो वृत्त प्रत्येक पृष्ठ पर मिले। पोथी खंडित थी, जिसे पीछे से लिखकर जहाँ-तहाँ की त्रुटि पूर्ण की गई थी। मूर्तियों में वंशस्थापक राणा पाल की भी एक मूर्ति थी। वेश मुग़ल सम्राटों जैसा—वही चौबन्दी, वही पगड़ी। इस वंश ने भी स्त्रोङ्-चन्-गम्बो से अपने सम्बन्ध को छिपाना चाहा था; किन्तु फ़्रांके को कहीं से असली परम्परा मिल गई थी। मन्दिर में एक खाँड़ा है, जिसे ये लोग शे-रब्-रल्-डी (प्रज्ञा-खड्ग) कहते हैं। उसके एक स्थान पर कुछ निशान हैं, जिसके लिए लोगों का विश्वास है कि यह खंडित हो गई थी, जो पीछे से स्वयं पूर्ण हो गई। सब देखने के बाद नाश्ते के लिए बैठा। त्रुम्ब (Buek wheet) की रोटी दही की चटनी से बहुत स्वादिष्ठ लगी।

साढ़े आठ बजे ठाकुर पृथ्वीचन्द से बिदाई ली। ख़च्चरवालों को पहले ही छोड़ कर आगे बढ़ा। पता लगा था, सीमू में एक मूर्ति पर कुछ पुराने अक्षर अंकित हैं। पहले मन्दिर थोड़ा ही ऊपर चढ़ कर बतलाया गया; किन्तु वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि वह मन्दिर प्रायः दो मील आगे अंडबंड रास्ते पर है। चल पड़ा। उक्त मन्दिर

का पुजारी वैद्य भी है। वैद्य तो ठीक वैसा ही मालूम पड़ता है—"यानि कानि च मूलानि, येन केनापि पिशयेत्। यस्य कस्यापि दातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति।" वैद्यराज परिवार-सहित रास्ते में ही घास काट रहे थे। ठाकुर मंगलचन्द की चिट्ठी दी। घास का गट्ठर ीठ पर लाद कर चल दिये। बाहर से देखने में घर अच्छा नहीं दिखाई देता था। दूसरे घर के पार होकर मन्दिर में घुसे। इस पर नई छत डाली गई थी। भीतर से ख़राब नहीं थी। प्रधान मूर्ति ललितासनासीन बोधिसत्व की पीतल की है; एक हाथ से कुछ अधिक ऊँची तथा सुन्दर है। वैद्य जी ने अक्षरांकित मूर्ति को दिखाया। वह आठ अंगुल से अधिक होगी। मूर्ति पत्थर की मुकुटधारी धर्मचक्र प्रवर्तन—मुद्रा-युक्त बुद्ध की है, जो वज्रयान के प्रभाव को बतलाती है। पीठ पर अक्षर हैं। फ़ोटो लिया और काग़ज़ पर भी उतारा। अक्षरों से मूर्ति दसवीं शताब्दी के आसपास की है। कोई विशेष सौन्दर्य नहीं। बड़ी पीतल की मूर्ति के बारे में कहावत है कि वह काशी जी से उड़कर आई है। अच्छा समागम हुआ। लेख में मन्त्र है, जिसमें "हुं फट् स्वाहा" तो स्पष्ट है। पीछे वैद्यराज ने चाय पीने का आग्रह किया। अब चले। वैद्य जी चार ही क़दम पर चल कर टरका देना चाहते थे। मैंने कहा, रास्ते के पास तक पहुँचा दीजिए। फिर उतराई में गत बनने लगी। पहाड़ पर भी तो ये लोग नाक की सीध जाना चाहते हैं। वैद्य जी भी मील भर तक आये। फिर दूर से रास्ता बतलाकर लौट गये। मैं घोड़े की लगाम पकड़ कर आगे चला। रास्ते पर आ गया। अब चन्द्रा नदी के दाहने किनारे से चलना था। रास्ता बना हुआ है। कहीं-कहीं दौड़ाने का भी अवकाश था। सूर्यास्त होते-होते खोक्-सर पहुँच गया। चन्द्रा के किनारे यह अन्तिम गाँव है और र-टङ्क जोत से प्रायः तीन मील नीचे बसा है। खच्चरवाले वहाँ पहुँच गये थे।

आज ऊपर-नीचे बहुत चढ़ना पड़ा; इसलिए जल्दी ही नींद

आ गई। पास में ६-७ कारवाँ डेरा डाले पड़े हुए थे। हमारे काफ़िले के सरदार सुक्खू का इस गाँव में दोस्त रहता था। दोस्त ने खब



खोकसर

ख़ातिर की। दिल खोल कर शराब पिलाई और दो बोतलें साथ बाँध भी दीं। ९-१० बजे सुक्खू झूमते-झामते लौटे। डेरे पर आकर फिर छानने लगे। ग्यारह बजे रात को हल्ला-गुल्ला सुनकर मेरी नींद खुल गई। देखा सुक्खू मौज में हैं। लोग शराब के बारे में जितनी नसीहत दे रहे हैं, सुक्खू का नशा उतना ही चढ़ रहा है। पंजाब में प्रयुक्त होनेवाली गालियों के संग्रह का यदि कोई शौकीन होता तो यह मौका उसके लिए बहुत ही उत्तम था। सुक्खू चुन-चुन कर गालियाँ दे रहे थे। किसको?—सभी को। आदमी, पानी हवा, पत्थर सभी को! एक आदमी को गाली दी तब वह भी गाली दे पड़ा! मैं उस बिना पिये पागल पर हँस रहा था और उधर दो दल तैयार हो गये। गुत्थम-गुत्था की नौबत आ पड़ी। ख़ैर, लोगों ने किसी तरह बीच-बचाव कर दिया। शराब पर नसीहत का उलटा फल देखकर मैंने लोगों से कहा—नसीहत बन्द करो, इसे गीत गाने या क़िस्सा

कहने में लगा दो। मैं तो सो गया; सुक्ख भी सबेरे लकड़ी की तरह पड़ा सो रहा था।

११—कुल्लू

खोक्-सर से कुल्लू ५३ मील है। पहली अक्टूबर को तैयारी करते मुझे ख़्याल आया कि मनाली से मोटर-द्वारा आज ही कुल्लू चल देना चाहिए। खच्चरवालों के साथ तीन दिन बरबाद करने का क्या प्रयोजन ? तो भी मैं पूरे निश्चय पर नहीं पहुँचा था। साथियों को अपनी चाल से तैयारी करते देखकर घोड़े को कसवाकर ७ बजे मैं चल पड़ा। थोड़ी-सी चढ़ाई तो मामूली थी, फिर खूब कड़वी चढ़ाई शुरू हुई, यद्यपि वह खड़ी न थी। ३ मील चलने के बाद कुछ समान मार्ग आया। व्यास-कुण्ड मिला। लोगों ने कहा—व्यास ऋषि का स्थान व्यास-कुण्ड आ गया। यहीं से व्यास नदी निकली है। मैंने कहा—भाई, यह तो सोलहो आने जालसाजी है। व्यास नदी का असली नाम तो विपाट् है। उससे व्यास का क्या सम्बन्ध ? एक छोटे से ग्लैसियर (हिमानी) से पानी की पतली धार आती है। नीचे की ओर गढ़े पत्थरों का चिकना एक छोटा-सा जल-कुण्ड है, यही व्यास-कुण्ड है। प्यास लगी थी, मैंने पानी पिया। एक ब्राह्मण देवता कपड़ा उतारकर नहाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे साथी कुछ खच्चरवाले भी होशियार निकले, उन्होंने आचमन पर ही टरका दिया। उतराई थी; इसलिए मैं घोड़े पर नहीं चढ़ा। एक जगह रास्ते में एक विशालकाय बर्फ़ की चट्टान थी। रास्ता उस पर से ही था। पत्थर-मिट्टी डाल कर फिसलाहट कम की गई थी, तो भी मुझे डर लगता था। मैंने अब घोड़े पर विश्वास करके लगाम छोड़ दी। एक जगह वह रास्ता छोड़ दूसरी ओर जाना चाहता था। मैंने पकड़ना चाहा; किन्तु वह मुझसे भी होशियार निकला। उसको दौड़ते देखकर मैं खड़ा हो गया। ख़याल करने लगा—यदि इसने शैतानी

की, तो यहीं बैठ रहना पड़ेगा। खैर, एक खच्चरवाले ने सहायता की। घोड़ा पकड़ लिया गया और मैं फिर चल पड़ा। बहुत दूर तक उतरने के बाद एक लड़के ने कहा—साँपों की मढ़ी को नहीं देखेंगे? मैंने पूछा, क्या बात है?—क्यों, यहाँ नाग-देवता रहते हैं? किसी समय यहाँ हज़ारों साँप जमा रहते थे, किन्तु किसी अँगरेज़ ने गोली चला दी, जिससे अब उतने तो नहीं हैं; किन्तु चार-पाँच हर वक्त मौजूद रहते हैं। लोग मिठाई चढ़ाकर पास जाकर दंडवत् करते हैं! मैंने कहा, रास्ता अच्छा होता तो चला जाता। इतनी कूदा-फाँदी कौन करे! उतराई समाप्त हुई। नदी पार केल (देवदार) के वृक्ष हैं। भूमि भी हरी घास से ढँकी हुई है। नीचे राला का डाकबँगला मिला। अब अपने राम ने आज ही कुल्लू पहुँचने का निश्चय कर लिया, यदि मनाली में मोटर-बस मिल जाय तो।

उतराई समाप्त कर सेब और परौठों का जलपान किया। जगह-जगह और भी घर मिलने लगे। व्यास नदी को कई जगह पार करना पड़ा। स्त्रियाँ यहाँ ऊनी साड़ी पहनतीं और सिर में रूमाल बाँधती हैं। दुअन्नी भर की एक लौंग तो अवश्य नाक में रहती है। किसी-किसी के तो दो भी देखीं। छतों पर जगह-जगह सुनहरी मक्के की बालें (छल्लियाँ) सूख रही थीं। आगे फिर चावल के खेत भी मिलने लगे। निचला हिमालय भी बंगाल और मदरास की भाँति चावल के लिए रिज़र्व है। चलते-चलते दो बजे मनाली पहुँच गये। यह कुल्लू से २३ मील ऊपर है और यहाँ तक मोटर-बस आती है। यहाँ भी केले का जंगल है। कुल्लू के बराबर यहाँ गरमी नहीं मालूम पड़ती थी।

पूछने पर मालूम हुआ, मोटर जाने में दो घंटे की देर है, वह चार बजे जाती है। अब समस्या उत्पन्न हुई कि घोड़े को कहाँ रक्खा जाय? पूछने पर होशियारपुर-ज़िले की एक दूकान का पता लगा। दूकानदार पहले आनाकानी करने लगा। पीछे उसने मंजूर कर लिया। घास के लिए चार आने दे दिये और घोड़े के मालिक का नाम-धाम बतला दिया।

पूछने पर मालूम हुआ, कुल्लू का किराया १॥) है। दशहरे के मेल के कारण सवारियाँ छूट भी रही हैं। "साधु-जन अकेले ही भले" कह कर और २।) देकर ड्राइवर के पास की सीट या फ़र्स्ट क्लास का टिकट कटाया। मनाली में एक यूरोपीयन सज्जन का सेबों का बाग़ है। उन्होंने एक कुल्लू की ब्राह्मणी से विवाह कर लिया, जिससे उनके तीन लड़के हुए। वे स्वयं हिन्दू-धर्म को मानते थे। मरने पर उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया आर्यसमाज ने कराई। तीनों लड़कों ने भी ब्राह्मण-कुमारियों से ब्याह किया है। उनकी स्त्रियाँ जातीय वेश और ललाट में सौभाग्य-बिन्दु लगाती हैं।

चार बजे मोटर पर रवाना हुआ। अगली सीट पर बैठने से सन्तोष होने लगा, जब पीछे बोरा-बन्दी होते देखी। यहाँ सड़क एक-तरफ़ा मोटर चलने की है। कटराईं में नियुक्त पुलिस का सिपाही समय से मोटरों को छोड़ता है। कटराई प्रायः आधी दूर पर है यहीं से नदी पार कर नगर है, जहाँ प्रोफ़ेसर "रोय-रिक," ने अपना निवास-स्थान बनाया है। जाने का इरादा तो था; किन्तु छोड़ दिया। अँधेरा होने पर मोटर कुल्लू पहुँची। मनाली से कुल्लू तक सड़क बहुत कुछ घरों से भर गई है। पंजाबी धनिक घर बनाते ही जा रहे हैं। कुछ दिनों में कुल्लू-उपत्यका सेब के बाग़ों के अतिरिक्त धनिकों का ग्रीष्म-विश्राम भी बन जायगी। अभी मकानों का किराया कम है। ५-७ रुपये मासिक में अच्छा आरामदेह घर मिल सकता है।

लाला थेबड़मल के यहाँ ठहरना था, जिनकी दूकानें लद्दाख और यारकन्द (चीनी तुर्किस्तान) में भी हैं। दूकान का पता लगाने में देर न हुई। अपने राम के पास शरीर पर के वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ न था। लाला थेबड़मल ने सोने के लिए स्थान बतलाया। मैंने ऊपर के कोठे को पसन्द किया। लाला थेबड़मल निरक्षर हैं; किन्तु अपनी व्यवहार-कुशलता से बड़ा कारबार क़ायम कर चुके हैं। कुल्लू में उनके ५-६ दूकान के मकान भी हैं, जिनमें एक को छोड़कर

बाक़ी उन्होंने किराये पर दे दिया है। अपने मकानों का प्लैन आदि आपने ही बनाया है; इसलिए रहनेवालों को हर वक्त सिर, कन्धों और पैरों की ख़ैर मनानी पड़ती है। कोठे पर जाने का रास्ता तो ख़ास परीक्षा का स्थान है। उस दिन चुपचाप सो गया।

अपने खाने-पीने के नियम को रात में ही बतला चुका था। २ अक्टूबर को सबेरे उठा। व्यास के तट पर शौच आदि के लिए चला। देखा, मेले से आधी मील दूर यहाँ भी जगह-जगह आदमियों के डेरे लगे



कुल्लू के मेले का एक दृश्य

हुए हैं। कहीं भेड़वालों का तम्बू है, कहीं खच्चरवालों का। कहीं स्पिती के गाने-नाचनेवालों का डेरा है, कहीं जाँस्कर के लोगों का। आने पर चाय-रोटी मिल गई। कुल्लू के बारे में पूछ-ताछ करता रहा। मालूम हुआ—हमारा वह स्थान अखाड़ा बाज़ार कहा जाता है। राजा की महलवाली बस्ती सुलतानपुर है, जो ज़रा ऊँचे बसी है। फिर ढालपुर है, जहाँ मेला और कचहरी है। तीनों ही मिलकर कुल्लू शहर है। शहर में अब ग़ैर-कुल्लू-वासियों की ही बस्ती है। पंजाबी छा गये हैं। १२ बजे का भोजन समाप्त कर थोड़ा विश्राम किया; फिर दो बजे मेले की ओर चला। पहले सुलतानपुर गया। यह अच्छा

और पुराना बाज़ार है; किन्तु मोटर का रास्ता होने से अखाड़ा बाज़ार बस रहा है। फिर ढाल बाज़ार की कचहरी के मैदान में पहुँचा। मेला यहीं लग रहा है। यहाँ कहीं खिलौने, कहीं हलवाई की दूकान, कहीं अन्य चीज़ें हैं। कृषि और उद्योग-विभागों ने भी अपनी-अपनी प्रदर्शनी खोल रक्खी थी। चूड़ी का जुआ भी आदमी खेल रहे थे। एक ओर गाय-बैल बिक रहे थे, दूसरी ओर घोड़े-बकरियाँ। कुल्लू और शाङ्-री के "राजाओं" के शामियाने पड़े हुए थे। अन्य जगह आश्विन शुक्ला दशमी को दशहरे का मेला समाप्त होता है; किन्तु कुल्लू में दशहरे का आरम्भ होकर पूर्णिमा को समाप्त होता है। कल वह समाप्त होनेवाला है। आज कुल्लू, सिराज आदि प्रदेशों से आये ३६५ देवताओं की, राजा और उसके रघुनाथ जी के यहाँ हाज़िरी हुई। नाना चेहरेवाले देव-विमान दो आदमियों के कंधे पर नाचते-कूदते बाजे-गाजे के साथ चल रहे थे। दर्शकों की भीड़ काफ़ी थी; लेकिन लोग कह रहे थे कि अब की साल वह कम है। सिराज प्रदेश का एक देवता था, जिसके चारों ओर मुँह था, ऊपर सुनहरा स्तूपाकार गोल मुकुट। उसे लेकर आदमी ख़ूब नाच रहे थे। मेरे साथी मास्टर भगतराम कह रहे थे, हम लोगों ने भी अखाड़ा बाज़ार में ठीक इसी प्रकार का एक देवता बनाया है, जो सिर्फ़ होली में ठाट-बाट के साथ निकलता है। लड़कों की फ़ौज साथ रहती है, बाजा-गाजा, रोशनी, सबकी अपूर्व छटा रहती है। मैंने कहा—अपने होली के देवता को भी क्यों नहीं इस देवमण्डली में शामिल कर देते? बिचारा साल भर में एक बार तो भी देहाती साथियों की सोहबत से मुस्तफ़ीद हो। कहने लगे, इन देवताओं को माफ़ी है और इनके गुर् हैं, जिनके ऊपर आकर देवता दुःख-सुख की भविष्यद्वाणी करता है। मैंने कहा, यह कौन-सी मुश्किल है। बना लो किसी आदमी को "गुर्" और उसके सिर पर तुम्हारा देवता आकर बोल देगा—कुल्लू का राजा, मुझे भी शीघ्र दो एकड़ भूमि माफ़ी दे, नहीं तो कुशल नहीं होगा।



कुल्लू की स्त्रियाँ विभिन्न भेषों में

दो एकड़ के लिए वह अकुशल थोड़ा ही करायेगा। कहा—हम लोगों ने उसे होली का देवता बनाया है, उसकी बहार जाती रहेगी। खैर, देवताओं का मिलन देखता रहा।

मैं रघुनाथ जी के रथ की ओर गया। मेरे साथी ने बताया, यह वह मूर्ति है, जिसे रामजी अपने वनवास के समय अयोध्या में रख गये थे। यह खास अयोध्या जी से आई है। मैंने कहा—मेरा सौभाग्य है! लाहुल में अभी काशी जी से लाई मूर्ति के दर्शन से कृतकृत्य हो चुका। अब फिर १३,३२,६७५ वर्ष, ५ महीने, ५ दिन, ३ घंटे १३ मिनट, ५५ सेकेंड पहले, साक्षात् मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की और उनके हाथ से बनी मूर्ति को देखकर नेत्रों को सफल कर रहा हूँ। पास में कुल्लू के राजा का डेरा था। हाथ में हाथ मिलाये ३०-४० पुरुष मण्डलाकार नाच रहे थे। दो स्त्रियाँ—जो कुरूपता में सारे हिमालय की रानी थीं—गा और नाच रही थीं। घूम-घाम कर शाम को मैं थेबड़मल के घर लौटा। थेबड़ शब्द का क्या अर्थ है, इस पर मैं बहुत सोचता रहा! जितनी भाषाओं का मुझे परिचय है, सबमें टक्कर मारा, माथे में चक्कर आने लगा; किन्तु किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सका। क्या इस पर आप कुछ रोशनी डाल सकते हैं?

३ अक्टूबर। आज मेले की समाप्ति थी। खच्चरवालों के आने की पूरी उम्मीद थी; किन्तु वे मेले में अपने नम्दों, पटुओं, यारकन्दी गिल्मों-गलीचों को बेंच रहे थे और मैं इधर-उधर उनके डेरों को ढूँढ़ रहा था! आज मेले में गया ही नहीं। अपने आसन पर बैठा तुम्हारे लिए यह पत्र लिखता रहा या आगन्तुओं से बातचीत करता रहा। यहाँ के फोटोग्राफर से ५॥ रुपये के कुछ फोटो भी खरीदे।

४ अक्टूबर को सबेरे शौच आदि से निवृत्त होकर खच्चरवालों को ढूँढ़ने निकला। मालूम हुआ, वे लोग मेले में हैं। देखा, तो दूकानें छाने बैठे हैं। १५ रुपये में कश्मीर में खरीदी जीन को ५ रुपये में

उन्हीं के हवाले कर और सामान खच्चर पर रखवा कर मैं लाला थेबड़मल के यहाँ पहुँचा। रास्ते में एन० डब्ल्यू० रेलवे की एजेंसी में पूछने पर मालूम हुआ कि वह शाम के ५ बजे तक बिल्टी कर देती है। कुछ देर तो बक्स को ही ढूँढ़ने में लग गई। फिर अनपेक्षित पुस्तकों, लद्दाख से लाई पुरातत्त्व की सामग्रियों तथा कपड़ों को उसमें रक्खा। पैक करते-करते दो बज गये। उसे एजेंसी में ले गया। वज़न दो मन साढ़े सात सेर हुआ। कह दिया, किराया पटने में दिया जायगा। बाबू ने कहा——आप और काम से निवृत्त हो आवें, बिल्टी तैयार मिलेगी। मैं मेले में इम्पीरियल मोटर सर्विस के आफ़िस से टिकट लेने चला गया। अगली सीट की बरक़त मुझे मालूम हो चुकी थी; इसलिए मैंने ५ रुपये न दे साढ़े सात रुपये में जोगेन्दरनगर रेल स्टेशन की सीट रिज़र्व कराई। घंटे भर बाद लौट कर आया, तो देखा; अभी बिल्टी का नाम नहीं। और आधा घंटा इन्तज़ार करने पर बिल्टी मिली। ख़ैर, बोझ उतर गया। अब चीज़ों के गड़बड़ होने का हर्ष-शोक पटने में होगा।

५ अक्टूबर को अँधेरे में ही उठना पड़ा; क्योंकि मोटर ६॥ बजे ही खुल जाती है। शौच आदि से निवृत्त होकर मास्टर मङ्गतराम के लाये मांस-मछली के पकौड़ों तथा दो कुल्लू के सेबों से नाश्ता हुआ। जानते ही हो, पहाड़ी लोग सात्त्विक और बल-पुष्टिदायक आहार के बड़े पक्षपाती होते हैं। लाला थेबड़मल ने अपने लड़के रसोइये बलभद्र को शाम को कह दिया था कि जल्दी उठकर स्वामी जी के लिए चाय-रोटी तैयार कर देना। मैं तो जानता था। नाश्ता करके हल्ला-गुल्ला किया, तब आँख मलते लड़का बाहर आया। चाय की बात करने लगा, तब मैंने कहा——जल्दी मेरा सामान लेकर मोटर के अड्डे पर पहुँचाओ। ख़ैर। समय पर वहाँ पहुँच गया। तौलने पर बिस्तरा-ट्रंक अब भी एक मन हुए। २० सेर का २।) किराया भी देना पड़ा। मेले पर जाकर और ठहरना पड़ा। आठ बजे मोटर कुल्लू से रवाना हुई। भरी हुई थी।

मेरे पीछेवाले खाने में कितने ही भारतीय साहब लोग बैठे हुए थे। एक बेचारा कांगड़े का अजूबा भी उसमें आ फँसा था। वह अपने को पहाड़ी नहीं समझता था और समय-समय पर पहाड़ियों के चाल-चलन, रीति-रवाज पर कड़ी टिप्पणी किया करता था। यार लोगों को अच्छी चिड़िया हाथ लगी। रास्ते भर चुहल मचती रही।

सड़क अच्छी है। जगह-जगह गद्दियों की भेड़ें रास्ते को रोक देती थीं। चावल के खेत लहलहा रहे थे और मक्का कट चुका था। कुल्लू से मंडी ४३ मील है। आधे के क़रीब ओड है। यहीं दोनों ओर की मोटरों का क्रास होता है। इधर दूकानें जगह-जगह थीं; किन्तु परम सात्त्विक उतराई के साथ गर्मी बढ़ने लगी। अण्डों का कहीं पता न था। मैंने अपने पास के नाश्ते से ही गुजारा किया। ११ बजे मोटर मंडी पहुँची। मंडी छोटा-सा पहाड़ी शहर है। पुराने इँगलैण्ड के नमूने के महल अब नवीन राजा-रानियों को पसन्द थोड़े ही आते हैं। उन्हें तो कोठी चाहिए। हाँ, एक बात अच्छी देखी। एक मन्दिर के हाते-वाले घर को राजकीय मोटरों के रखने का गैरेज बना दिया था। आख़िर ऐसी ख़ाली इमारतों का और बेहतर उपयोग क्या हो सकता है? साथ ही मन्दिर के ठाकुरजी को समय-समय पर पेट्रोल की विशुद्ध धूप मिल जाती है, उनके तीनों ताप दूर हो जाते हैं! मंडी में खोजने पर आसानी से एक अच्छा होटल—हाँ, रे-तो-राँ, मिल गया। रोटी, भाजी और दो प्याली चाय के लिए आठ आने देने पड़े। मुक़ाबिला करो, उतने ही दाम या आधे मार्क की एक प्याली चाय और एक टुकड़ा रोटी से—जो जर्मन रेलों पर मिलती है। अच्छी तरह डटकर भोजन किया। आकर गाड़ी पर सवार हुआ। १२ बजे गाड़ी चली। नगर से बाहर व्यास के पुल को पार करने के लिए मत्थे-मत्थे एक-एक पैसा देना पड़ा। अब गर्मी काफ़ी मालूम हो रही थी। मुझे पहले ही डर लग रहा था कि, नीचे जाने पर पानी की ठंडक और स्वाद से वञ्चित होना पड़ेगा। इसका अनुभव यहीं से होने लगा। कई जगह अतृप्त हो पानी पीया।



मंडी नगर में व्यास नदी का घाट

रास्ता कहीं चढ़ाई का था और कहीं उतराई का। गाँवों में चावल के ही खेत थे और केले भी दिखाई पड़ते थे। भैंसों का दर्शन पहले-पहल कुल्लू में हुआ था। अब इधर तो उनके झुण्ड मिलने लगे। दो एक काले नमक की खानें भी पास में मिलीं। एक घाटी में और दोनों ओर की मोटरों का त्रास हुआ। नीचे मील भर जाने पर ६ आने प्रतिआदमी राज-टैक्स देना पड़ा। कुल्लू से ७९ मील चलकर ४ बजे जोगेन्दरनगर पहुँच गया। मण्डी-विद्युद्-उत्पादन यहीं है। करोड़ों रुपयों का वारा-न्यारा यहीं, 'स्कीम बाज़ी'' पर, होता रहा। खैर, अब यहाँ से बिजली मिलने लगी।

मालूम हुआ, गाड़ी कल आठ बजे मिलेगी। ठहरने के लिए सनातनधर्म और आर्यसमाज के मन्दिर थे। मैंने पिछले को ही पसन्द किया। सोचा, मेरे जैसे पूर्ण नास्तिक को अर्द्ध आस्तिक स्थान ही ढूँढ़ना चाहिए। सनातनधर्म में जूता, छुआछूत आदि कितनी ही बातों का काँटा रूँधा हुआ है; वैसे मूर्तिपूजा में तो हम दोनों एक हैं। समाज-मन्दिर में चपरासी मिला। उसने कृपा कर व्याख्यानशाला का एक कोना बतला दिया। खटमलों के डर से—हाँ डर से, भला जिनके डर से—"हरो हिमालये शेते हरिः शेते महोदधौ। ब्रह्मा च पङ्कजे शेते मन्ये मत्कुण-शङ्कया!" फिर मुझ जैसे तुच्छ प्राणियों की क्या बात! वहाँ पानी और पेशाब-पाखाने का कोई इन्तज़ाम नहीं। मन्दिर के लिए यह शोभा भी नहीं देता! 'अगाढ़, पिछाड़, सारा पड़ा तो है ही''। क्या ज़रूरत है विशेष प्रबन्ध की? रात को खाना-पीना था ही नहीं। तीन सप्ताह बाद अखबार पढ़ने को मिला। मालूम हुआ, एनी बेसेंट चल बसीं। जवानों का ठिकाना नहीं, तो ८५ वर्ष की बुढ़िया का क्या कहना! हाँ, अन्तिम समय में उस मनस्विनी की उम्मीदों पर कृष्णमूर्ति ने पानी फेर दिया!

सबेरे फेनी और दूध का जलपान हुआ। रास्ते के भोजन के भरोसे हलका ही किया। ६ अक्टूबर को नौ बजे—४० मिनट लेट मेरी गाड़ी

जोगेन्दरनगर (३८६२ फ़ुट) से रवाना हुई। एन० डब्ल्यू० आर० है; किन्तु लाइन बी० एन० डब्ल्यू०आर० की तरह छोटी है। इस लाइन खुले चार-पाँच ही साल हुए हैं। यहाँ से लाहौर का, ड्योढ़े का टिकट ७॥) देना पड़ा। एक स्टेशन गया, दो-तीन स्टेशन गया; देखा, कहीं कोई चीज़ बिकने को नहीं आ रही है। अब तो "बादल देख घड़ा फोड़ने पर" अफ़सोस होने लगा। ग्यारह बजे के क़रीब पालमपुर पहुँचे। यहाँ एक आदमी खीरे और अमरूद लाया, दो आने में चार खीरे, चार अमरूद लिये। साथ के सरदार साहब ने दया करके चार पूरियाँ दीं। ख़ैर, काम बन गया। भोजन से निवृत्त होकर अब आस-पास देखने लगा। इधर चाय के बाग़ीचे काफ़ी हैं। पर्वतों पर चीड़ के वृक्ष तथा दूसरे वृक्ष हैं। धान की बहुतायत यहाँ भी है। हाँ, एक बात छोड़ दी गई। जोगेन्दरनगर से १३ मील पर तीसरा स्टेशन बैजनाथमन्दिर है। यह एक प्रसिद्ध प्राचीन शिव-मन्दिर है, जो भारत के बहुत पुराने मन्दिरों में है। स्टेशन से मन्दिर दो ही फ़र्लांग है। लोग जा रहे थे। अपने राम को इच्छा न हुई। ५१ मील पर ज्वालामुखी रोड आया। यहीं से "ज्वालामाई" के दर्शन के लिए लोग जाते हैं! हरियाली तो अब भी काफ़ी थी; किन्तु अपने राम अब काफ़ी गर्मी अनुभव कर रहे थे।

हाँ, सन्ध्या कुछ शान्ति का सन्देश ला रही थी। गाड़ी के डिब्बे अकसर ख़ाली ही थे; क्योंकि बग़ल की सड़क पर मोटर-बसें धावा मार रही थीं। आधा घंटा लेट हो, ६ बजे पठानकोट पहुँचा। गाड़ी तैयार थी। लाहौरवाले डिब्बे में जाकर बैठ गया। अमृतसर में भी उतरना-पुतरना नहीं पड़ा। साढ़े दस बजे लाहौर पहुँच गया। ठहरने के लिए ३ यजमान थे—डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप, लाला मोहनलाल और पण्डित सन्तराम। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप के घर को देखा तो था; किन्तु पूरा याद न था। इसलिए कृष्णनगर में पण्डित सन्तराम के घर के लिए ताँगा लिया। रास्ते में लाजपतराय हाल में भी आवाज़ दी। किन्तु आधी



पालमपुर से पहाड़ और बर्फ़ से ढँकी हुई चोटियों का दृश्य

रात क्या आवाज सुनने का समय है ? सन्तराम जी घर पर ही मिले। छत पर जाकर सो गया।

७ बजे नाश्ते के बाद डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप के यहाँ गया, तो मालूम हुआ, कि मेरे कार्ड की तारीख़ से ही वे रात को स्टेशन पर पहुँचे थे; किन्तु मिल नहीं सके। अस्तु, यहीं पकड़ लिया गया। कल पण्डित शिव-नारायण जी से मिला। आज (६ अक्टूबर) उनके यहाँ भोजन करना है।